समय आया और वे इस नश्वर शरीरको परित्याग करके गोलोकको गमन करने लगे तब श्रीकृष्णविरहमें छटपटाते हुए रुदन करने लगे। रोते-रोते वे विकलताके साथ साँस भर-भरकर वेदनाके स्वरमें कहते—'हा नाथ! तुम्हें कब देख सकूँगा, मथुरामें जाकर आपके दर्शन न कर सका! हे मेरे मनमोहन! इस अधमको भी उबारो, मैं आपके विरहजन्य दुःखसे जला जा रहा हूँ!' उनकी इस पीड़ाको, विकलताको, कातरता और अधीरताको कोई सच्चा भगवत्-रसिक ही समझ सकता था। शुष्क तर्कीयतके, अक्खड़ प्रकृतिके ज्ञानाभ्यासी रामचन्द्रपुरी इस व्यथाका मर्म क्या जानें। उन्होंने वे ही सुनी हुई ज्ञानकी बातें छाँटनी शुरू कर दीं। उन शिक्षकमानी महात्माको यह भी ध्यान नहीं रहा कि जिन महापुरुषसे हमने दीक्षा ली है वे भी इन बातोंको जानते होंगे। वे गुरुजीको उपदेश करने लगे—'महाराज! आप ये कैसी मोहकी-सी भूली-भूली बातें कह रहे हैं, यह हृदय ही मथुरा है, आप ही ब्रह्म हैं, जगत् त्रिकालमें भी नहीं हुआ। आप इस शोकको दूर कीजिये और अपनेको ही ब्रह्म अनुभव कीजिये।' धीरेसे क्षीणस्वरमें महाराजने अपने प्रिय शिष्य ईश्वरपुरी महाराज-को बुलाया और उन्हें आज्ञा दी कि रामचन्द्रको मेरे सामनेसे हटा दो। रामचन्द्रपुरी गुरुकी असन्तुष्टताको लिये हुए ही बाहर हुए। भगवान् माधवेन्द्रपुरीने श्रीकृष्ण-श्रीकृष्ण कहते हुए और अन्तिम समय-में इस श्लोकका उच्चारण करते हुए इस पाञ्चभौतिक नश्वर शरीरको त्याग दिया—

अयि दीनदयार्द्र नाथ हे मथुरानाथ कदावलोक्यसे।
हृदयं त्वदलोककातरं दयित! भ्राम्यति किं करोम्यहम्॥*

(पद्यावल्याम्)

---

* हे दीनोंके ऊपर दया करनेवाले प्रभो! हे दयालो! हे मथुरानाथ! तुम्हारे मनोहर मुखकमलको कब देख सकूँगा? नाथ! यह हृदय तुम्हें न देखनेके

पुरी महाराजके निधनके अनन्तर ईश्वरपुरी महाराज तो गौड़ देशकी ओर चले गये और रामचन्द्रपुरी तीर्थोंमें भ्रमण करते रहे। भ्रमण करते करते ये प्रभुकी कीर्ति और प्रशंसा सुनकर पुरीमें आये। आकर उन्होंने अपने ज्येष्ठ गुरुभाता परमानन्दजी पुरीके चरणोंमें प्रणाम किया और फिर प्रभुसे मिलनेके लिये गये। प्रभु इनका परिचय पाकर उठकर खड़े हो गये और इनके चरणोंमें गुरुभावसे श्रद्धाके साथ प्रणाम किया। और भी प्रभुके साथी बहुत-से विरक्त भक्त वहाँ आ गये, सभीने गुरुभावसे पुरीको प्रणाम किया और बहुत देरतक भगवत्सम्बन्धी बातें होती रहीं। प्रभुके पास आये हुए अतिथियोंका भार इन्हीं सब विरक्त वैष्णवोंपर था। वे लोग भिक्षा करके लाते थे और उसीसे आगत अतिथियोंका स्वागत-सत्कार करते थे। महाप्रभुकी भिक्षाका कोई नियम नहीं था, जो भी भक्त निमन्त्रण करके प्रसाद दे जाय उसे ही प्रभु पा लेते थे। सार्वभौम भट्टाचार्य आदि गृहस्थी भक्त प्रभुको अपने घरपर भी बुलाकर भिक्षा कराते थे और विरक्त भक्त भी बारी-बारीसे प्रभुको भिक्षा करा दिया करते थे। सामान्यतया प्रभुकी भिक्षामें चार आनेका खर्च था। चार आनेके प्रसादमें प्रभुकी भिक्षाका काम चल जाता। और सब तो इधर-उधरसे भिक्षा कर लाते थे। केवल श्रीईश्वरपुरीके शिष्य काशीश्वर और सेवक गोविन्द ये दो प्रभुके ही समीप भिक्षा पाते थे। इन चार आनेके प्रसादमें तीनोंका ही काम चल जाता था। इसके अतिरिक्त प्रेमके कारण कोई और भी अधिक मिष्टान्न आदि पदार्थ ले आवे तो प्रभु उसकी भी अवहेलना नहीं करते थे। प्रसादमें उनकी भेद-बुद्धि नहीं थी। भक्त प्रेमपूर्वक प्रभुको आग्रह कर-करके खूब खिलाते थे

कारण कातर होकर तुम्हारे लिये छटपटा रहा है, चारों ओर घूम रहा है, 'प्राणवल्लभ! अब मैं क्या करूँ? कहाँ जाऊँ?

और प्रभु भी उनके आग्रहको मानकर इच्छा न होनेपर भी थोड़ा-बहुत खा लेते थे।

उस दिन नवागत रामचन्द्रपुरीका निमन्त्रण जगदानन्दजीने किया। मन्दिरसे प्रसाद लाकर उन्होंने प्रेमपूर्वक उन्हें भिक्षा करायी। वे तो प्रेमी थे, प्रभुको जिस प्रकार प्रेमपूर्वक आग्रहके साथ भिक्षा कराते थे, उसी प्रकार आग्रह कर-करके उन्हें भी खूब खिलाया। वे महाशय आग्रह करनेसे खा तो बहुत गये, किन्तु जाते ही उन्होंने जगदानन्द पण्डितकी निन्दा करनी आरम्भ कर दी। कहने लगे—'सचमुच हमने जो सुना था कि श्रीकृष्णचैतन्यके सभी भक्त पेटू हैं, यह बात ठीक ही निकली। भला, साधु होकर जो इतना अन्न खायगा, वह भजन-पूजन कैसे कर सकेगा!' इस प्रकारकी बहुत-सी बातें वे लोगोंसे कहते। स्वयं त्यागके अभिमानके कारण भिक्षा करके खाते। जहाँ-तहाँ एकान्त स्थानों और पेड़ोंके नीचे पड़े रहते और महाप्रभुके आचरणकी लोगोंमें खूब निन्दा करते। वे अपने स्वभावसे विवश थे, प्रभुका इतना भारी प्रभाव उन्हें अखरता था। उनमें ही क्या विशेषता है कि लोग उन्हींकी पूजा करते हैं। वे संन्यासी होकर भी गृहस्थियोंके घरमें रहते हैं। हम विरक्तोंकी भाँति एकान्त स्थानोंमें निवास करते हैं। वे रोज बढ़िया-बढ़िया पदार्थ संन्यासीधर्मके विरुद्ध अनेकों बार खाते हैं। हम यति-धर्मका पालन करते हुए रूखी-सूखी भिक्षापर ही निर्वाह करते हैं। वे सदा लोगोंसे घिरे रहते हैं। हमलोगोंसे एकदम पृथक् रहते हैं। फिर भी मूर्ख लोग हमारा सत्कार न करके उन्हींका सबसे अधिक सत्कार करते हैं। मालूम होता है लोग यतिधर्मसे अनभिज्ञ हैं, हम उन्हें समझाकर उनके भ्रमको दूर कर देंगे। यह सोचकर वे प्रभुके आचरणोंकी निन्दा करने लगे और यतिधर्मके व्याजसे अपनी प्रशंसा करने लगे।

भक्तोंने जाकर यह बात प्रभुसे कही। प्रभु तो किसीके सम्बन्धका निन्दावाक्य सुनना ही नहीं चाहते थे, इसलिये उन्होंने इस बातकी एक-दम उपेक्षा ही कर दी। रामचन्द्रजी अपने स्वभावानुसार प्रभुकी तथा उनके भक्तोंकी सदा कड़ी आलोचना करते रहते थे।

एक दिन वे प्रातःकाल प्रभुके पास पहुँचे। उस समय प्रभु समुद्र-स्नान करके बैठे हुए भगवन्नामोंका जप कर रहे थे। एक ओर सुन्दर कमण्डलु रखा था, दूसरी ओर श्रीमद्भागवतकी पुस्तक रखी थी। रात्रिकी प्रसादी मालाएँ भी वहाँ टँग रही थीं। पुरीको देखते ही प्रभुने उन्हें उठकर सादर प्रणाम किया और बैठनेके लिये आसन दिया। जिस प्रकार मीठा और विष्ठा पास-पास रहनेपर मक्खीकी दृष्टि विष्ठापर ही जाती है और वह मीठेको छोड़कर विष्ठापर ही बैठती है उसी प्रकार छिद्रान्वेषण-स्वभाववाले रामचन्द्रपुरीकी दृष्टि सामने दीवालपर चढ़ती हुई चींटियोंके ऊपर पड़ी। दीवालपर चींटियोंका चढ़ना कोई नयी बात नहीं थी, किन्तु वे तो छिद्रान्वेषणके ही निमित्त आये थे। इसलिये बोले—'क्यों जी! हम समझते हैं, तुम मीठा बहुत खाते हो, तभी तो तुम्हारे यहाँ इतनी चींटी हैं।'

प्रभु इसे अस्वीकार न कर सके। उन्होंने सरलताके साथ कहा—'भगवन्! भगवान्‌के प्रसादमें मैं मीठे-खट्टेका विचार नहीं करता।'

पुरीने अपना गुरुत्व जताते हुए कहा—'यह बात ठीक नहीं है, ऐसा आचरण यतिधर्मके विरुद्ध है। संन्यासीको स्वादिष्ट पदार्थ तो कभी खाने ही न चाहिये। भिक्षामें जो भी कुछ रूखा-सूखा मिल गया उसीसे उदरपूर्ति कर लेनी चाहिये। साधुको स्वादसे क्या प्रयोजन? तुम्हारे सभी भक्त खूब खाते हैं और तान दुपट्टा सोते हैं, भला इतना

अधिक खानेपर भजन कैसे हो सकता है! सुना है, तुम भी बहुत खाते हो।'

प्रभुने अत्यन्त ही दीनताके साथ कहा—'अब आप जैसा उपदेश करेंगे, वैसा ही करूँगा।'

पुरीने कुछ गर्वके स्वरमें कहा—'हम क्या उपदेश करेंगे, तुम स्वयं समझदार हो। संन्यासी होकर संन्यासियोंका-सा आचरण करो, इस दूकानदारीको छोड़ो। लोगोंका मनोरञ्जन करनेसे क्या लाभ? संन्यासीका जीवन तो घोर तितिक्षामय होना चाहिये।' यह सुनकर प्रभु चुप हो गये और रामचन्द्रपुरी उठकर चले गये। तब प्रभुने गोविन्दको बुलाकर कहा—'गोविन्द! आजसे मेरे लिये एक 'चोठि' भात और पाँच पीठाके व्यञ्जन, बस यही भिक्षामें लिया करना। इससे अधिक मेरे लिये किसीसे भिक्षा ली तो मैं बहुत असन्तुष्ट होऊँगा।' जगन्नाथजी-का प्रसाद सदा मिट्टीकी हाँड़ियोंमें बनता है। एक हाँड़ीके चौथाई भागको 'एक चोठि' या एक चौथाई बोलते हैं। मालूम पड़ता है, उन दिनों मोल लेनेपर एक हाँड़ी भात दो-तीन पैसेमें मिलता होगा और एक-दो पैसेमें दूसरे व्यञ्जन। चार पैसेके प्रसादमें चार-पाँच आदमियोंकी भलीभाँति तृप्ति हो जाती होगी। अब प्रभुने केवल एक पैसेका ही भोग लेना स्वीकार किया। काशीश्वर और गोविन्दसे कह दिया—'तुमलोग अन्यत्र जाकर भिक्षा ले आया करो। गोविन्द उदास मनसे लौट गया। यह प्रभुकी इस कठोर आज्ञाका कुछ भी अभिप्राय न समझ सका। गोविन्द प्रभुका अत्यन्त ही अन्तरङ्ग भक्त था, उसका प्रभुके प्रति मातृवत् स्नेह था। प्रभुकी सेवामें ही उसे परमानन्द सुखका अनुभव होता था। उसे पता था कि प्रभु जिस बातका निश्चय कर लेते हैं, फिर उसे सहसा जल्दी नहीं छोड़ते। इसलिये उसने प्रभुके आज्ञापालनमें

आनाकानी नहीं की। उस दिन एक ब्राह्मणने प्रभुका निमन्त्रण किया था। वह बहुत-सा सामान प्रभुकी भिक्षाके निमित्त लाया था, किन्तु उसने उतना ही प्रसाद उसमेंसे लिया जितनेकी प्रभुने आज्ञा दी थी, शेष सभी लौटा दिया। इस बातसे उस ब्राह्मणको अपार दुःख हुआ, किन्तु प्रभुने अधिक लेनेकी स्वीकृति ही नहीं दी।

भक्तोंको इस बातका पता चला। सभी रामचन्द्रपुरीको खोटी-खरी सुनाने लगे। सभी प्रभुके समीप आ-आकर प्रार्थना करने लगे, किन्तु प्रभुने इससे अधिक भिक्षा स्वीकार ही नहीं की। यह बात रामचन्द्रपुरीको भी मालूम हुई। वह भी प्रभुके भावोंको ताड़नेके निमित्त प्रभुके समीप आये। प्रभुने पूर्ववत् ही उठकर उन्हें प्रेमपूर्वक प्रणाम किया और बैठनेके लिये अपनेसे ऊँचा आसन दिया। आसनपर बैठते हुए गुरुत्वके भावसे पुरी कहने लगे—'हमने सुना है, तुमने हमारे कहनेसे अपना आहार घटा दिया है, यह बात ठीक नहीं है। हमारे कहनेका अभिप्राय यह था कि आहार-विहार युक्त करना चाहिये। इतना अधिक भी न करना चाहिये कि भजनमें बैठा ही न जाय और इतना कम भी न करना चाहिये कि शरीर कृश हो जाय। युक्तिपूर्वक भोजन करना चाहिये। शरीर सुखानेसे क्या लाभ?'

प्रभुने धीरेसे नम्रताके साथ कहा—'मैं आपका बच्चा हूँ, आप गुरुजन जैसी आज्ञा करेंगे, वैसा ही मैं करूँगा।'

उसी स्वरमें पुरी कहने लगे—'हाँ, यह तो ठीक है, किन्तु भोजन पेट भरके किया करो।' इतना कहकर पुरी महाराज चले गये। किन्तु प्रभुने अपना आहार उतना ही रखा, उसमें कुछ भी परिवर्तन नहीं किया। इससे भक्तोंको तो बड़ा ही दुःख हुआ। वे सब परमानन्दजी

पुरीके पास पहुँचे और उनसे प्रार्थना करने लगे कि वे प्रभुको समझा दें। भक्तोंके कहनेपर परमानन्दजी प्रभुके पास गये और अत्यन्त ही क्षीण देखकर कहने लगे—'आप इतने कृश क्यों हो गये हैं, सुना है, आपने अपना आहार भी अति सूक्ष्म कर दिया है, इसका कारण क्या है?'

प्रभुने सरलतापूर्वक उत्तर दिया—'श्रीपाद रामचन्द्रजी पुरीने मुझे ऐसी ही आज्ञा दी थी कि संन्यासीको कम आहार करना चाहिये।'

कुछ रोषके स्वरमें परमानन्दजीने कहा—'आपने भी किसकी बात मानी? उसे आप नहीं जानते, उसका तो स्वभाव ही दूसरोंकी निन्दा करना है, ऐसे निन्दकोंके उपदेशपर चलने लगें तो सभी रसातलमें पहुँच जायँ। आपकी तो बात ही क्या है, वह तो महामहिम श्रीगुरु-चरणोंकी निन्दा किये बिना नहीं रहता था। उसके कहनेसे आप शरीरको सुखा रहे हैं, इससे हमें बड़ा कष्ट होता है। आप हमारे आग्रहसे भरपेट भोजन कीजिये।'

प्रभुने सरलताके साथ कहा—'आप भी गुरु हैं, वे भी मान्य हैं। आपकी आज्ञाको भी टाल नहीं सकता, आजसे कुछ अधिक खाया करूँगा।' प्रभुके ऐसा विश्वास दिलानेपर पुरी उठकर अपने आसनपर चले गये। उस दिनसे प्रभुने आहार कुछ बढ़ाया तो अवश्य, किन्तु पहलेके बराबर उनका आहार फिर कभी हुआ ही नहीं। सभी भक्त मन-ही-मन रामचन्द्रपुरीको कोसने लगे और भगवान्‌से प्रार्थना करने लगे कि जल्दी ही इनके श्वेत पैर पुरीकी पावनभूमिको परित्याग करके कहीं अन्यत्र चले जायँ। भक्तोंकी प्रार्थना भगवान्‌ने सुन ली और थोड़े दिनों बाद रामचन्द्रपुरी महाशय अपने-आप ही पुरी छोड़कर किसी अन्य स्थानके लिये चले गये।

महात्मा हरिदासजीका गोलोकगमन

विनिश्चितं वदामि ते न चान्यथा वचांसि मे।
हरिं नरा भजन्ति येऽतिदुस्तरं तरन्ति ते॥*

जिनकी भाग्यवती जिह्वापर श्रीहरिके मधुर नाम सदा विराजमान रहते हैं, नामसंकीर्तनके द्वारा जिनके रोम-रोममें राम रम गया है, जिन्होंने कृष्णकीर्तनके द्वारा इस कलुषित कलेवरको चिन्मय बना लिया है, वे नामप्रेमी संत समय-समयपर संसारको शिक्षा देनेके निमित्त इस अवनिपर अवतरित होकर लोगोंके सम्मुख नाममाहात्म्य प्रकट करते हैं। वे नित्य-सिद्ध और अनुग्रहसृष्टिके जीव होते हैं। न उनका जन्म है और न उनकी मृत्यु। उनकी कोई जाति नहीं, कुटुम्ब-परिवार नहीं। वे वर्णाश्रम-से परे मत-मतान्तरोंसे रहित और यावत् भौतिक पदार्थोंसे संसर्ग रखनेवाले सम्बन्ध है उन सभीसे पृथक् ही रहते हैं। अपने अलौकिक आचरणके द्वारा संसारको साधनपथकी ओर अग्रसर करनेके निमित्त ही उनका अवतरण होता है। वे ऊपरसे इसी कार्यके निमित्त उतरते हैं और कार्य समाप्त

---

* मैं खूब सोच-विचारकर निश्चितरूपसे कहता हूँ, मेरे वचनोंको मिथ्या मत समझना। मैं कहता हूँ और दावेके साथ कहता हूँ, जो लोग श्रीहरिका भजन करते हैं वे कठिनतासे पार होनेवाले इस असार संसाररूपी समुद्रको बात-की-बातमें तर जाते हैं।

होनेपर ऊपर ही चले जाते हैं। हम संसारी लोगोंकी दृष्टिमें उनके जन्म-मरण आदि सभी कार्य होते-से दीखते है। वे जन्मते भी हैं, बढ़ते भी हैं, रहते भी हैं, खाते-पीते तथा उठते-बैठते-से भी दीखते हैं, वृद्ध भी होते हैं और इस पाञ्चभौतिक शरीरको त्यागकर मृत्युको भी प्राप्त करते हैं। हम करें भी तो क्या करें, हमारी बुद्धि ही ऐसी बनी है। वह इन धर्मोंसे रहित व्यक्तिका अनुमान ही नहीं कर सकती। गोल छिद्रमें तो गोल ही वस्तु आवेगी, यदि तुम उसमें उसी नापकी चौकोनी वस्तु डालोगे तो तुम्हारा परिश्रम व्यर्थ होगा। छिद्रकी बनावट देखकर ही उसमें वस्तु डालनी चाहिये। इसीलिये कभी न मरनेवाले अमर महात्माओंके भी शरीरत्यागका वर्णन किया जाता है। वास्तवमें तो श्रीहरिदासजी जैसे तब थे वैसे ही अब भी हैं, नामामृतने उन्हें सदाके लिये जरा, व्याधि तथा मरणसे रहित बनाकर अमर कर दिया। जो अमर हो गया उसकी मृत्यु कैसी? उसके लिये शोक कैसा? उनकी मृत्यु भी एक प्रकारकी लीला है और श्रीचैतन्य उस लीलाके सुचतुर सूत्रधार हैं। वे दुःखसे रहित होकर भी दुःख करते-से दीखते हैं, ममता-मोहसे पृथक् होनेपर भी वे उसमें सने-से मालूम पड़ते हैं। शोक, उद्वेग और सन्तापसे अलग होनेपर भी वे शोकयुक्त, उद्वेगयुक्त और सन्तापयुक्त-से दृष्टिगोचर होते हैं। उनकी माया वे ही जानें। हम तो दर्शक हैं, जैसा देख रहे हैं, वैसा ही बतावेंगे, जैसा सुनेंगे, वैसा ही कहेंगे। लीला है, बनावट है, छद्म है, नाटक है या सत्य है, इसे वे ही जानें।

दोपहर हो चुका था, प्रभुका सेवक गोविन्द नित्यकी भाँति महा-प्रसाद लेकर हरिदासके पास पहुँचा। रोज वह हरिदासजीको आसनपर बैठे हुए नाम-जप करते पाता था। उस दिन उसने देखा हरिदासजी सामनेके तख्तपर आँख बंद किये हुए लेट रहे हैं। उनके श्रीमुखसे आप-ही-आप निकल रहा था—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

गोविन्दने धीरेसे कहा—'हरिदास ! उठो, आज कैसे सुस्तीमें पड़े हो !'

कुछ सम्भ्रमके साथ चौंककर आँखें खोलते हुए भर्राई आवाजमें हरिदासजीने पूछा—'कौन है ?'

गोविन्दने कहा—'कोई नहीं, मैं हूँ गोविन्द। क्यों क्या हाल है ? पड़े कैसे हो ? प्रसाद लाया हूँ, लो प्रसाद पा लो।'

कुछ क्षीणस्वरमें हरिदासजीने कहा—'प्रसाद लाये हो ! प्रसाद कैसे पाऊँ ?'

गोविन्दने कुछ ममताके स्वरमें कहा—'क्यों, क्यों, बात क्या है, बताओ तो सही। तबीअत तो अच्छी है न ?'

हरिदासजीने फिर उसी प्रकार विषण्णतायुक्त वाणीमें कहा—'हाँ, तबीअत अच्छी है, किन्तु आज नामजपकी संख्या पूरी नहीं हुई। बिना संख्या पूरी किये प्रसाद कैसे पाऊँ ? तुम ले आये हो तो अब प्रसादका अपमान करते भी नहीं बनता।' यह कहकर उन्होंने प्रसादको प्रणाम किया और उसमेंसे एक कण लेकर मुखमें डाल लिया। गोविन्द चला गया, उसने सब हाल महाप्रभुसे जाकर कहा।

दूसरे दिन सदाकी भाँति समुद्रस्नान करके प्रभु हरिदासजीके आश्रममें गये। उस समय भी हरिदासजी जमीनपर पड़े झपकी ले रहे थे। पासमें ही मिट्टीके करवेमें जल भरा रखा था। आज आश्रम सदाकी भाँति झाड़ा-बुहारा नहीं गया था। इधर-उधर कूड़ा पड़ा था, मक्खियाँ भिनक रही थीं। प्रभुने आवाज देकर पूछा—'हरिदासजी ! तबीअत कैसी है ? शरीर तो स्वस्थ है न ?'

हरिदासजीने चौंककर प्रभुको प्रणाम किया और क्षीणस्वरमें कहा—'शरीर तो स्वस्थ है। मन स्वस्थ नहीं है।'

प्रभुने पूछा—'क्यों, मनको क्या क्लेश है, किस बातकी चिन्ता है?'

उसी प्रकार दीनताके स्वरमें हरिदासजीने कहा—'यही चिन्ता है प्रभो! कि नामसंख्या अब पूरी नहीं होती।'

प्रभुने ममताके स्वरमें कुछ बातपर जोर देते हुए कहा—'देखो, अब तुम इतने वृद्ध हो गये हो। बहुत हठ ठीक नहीं होती। नामकी संख्या कुछ कम कर दो। तुम्हारे लिये क्या संख्या और क्या जप? तुम तो नित्यसिद्ध पुरुष हो, तुम्हारे सभी कार्य केवल लोकशिक्षणके निमित्त होते हैं।'

हरिदासजीने कहा—'प्रभो! अब उतना जप होता ही नहीं, स्वतः ही कम हो गया है। हाँ, मुझे आपके श्रीचरणोंमें एक निवेदन करना था!'

प्रभु पासमें ही एक आसन खींचकर बैठ गये और प्यारसे कहने लगे—'कहो, क्या कहना चाहते हो?'

अत्यन्त ही दीनताके साथ हरिदासजीने कहा—'आपके लक्षणोंसे मुझे प्रतीत हो गया है कि आप शीघ्र ही लीलासंवरण करना चाहते हैं। प्रभो! मेरी श्रीचरणोंमें यही अन्तिम प्रार्थना है कि यह दुःखप्रद दृश्य मुझे अपनी आँखोंसे देखना न पड़े। प्रभो! मेरा हृदय फट जायगा। मैं इस प्रकार हृदय फटकर मृत्यु नहीं चाहता। मेरी तो मनोकामना यही है कि नेत्रोंके सामने आपकी मनमोहिनी मूरत हो, हृदयमें आपके सुन्दर सुवर्णवर्णकी सलोनी सूरत हो, जिह्वापर मधुरातिमधुर श्रीकृष्णचैतन्य यह त्रैलोक्यपावन नाम हो और आपके चारु चरित्रोंका चिन्तन करते-करते मैं इस नश्वर शरीरको त्याग करूँ। यही मेरी

साध है, यही मेरी उत्कट अभिलाषा है। आप स्वतन्त्र ईश्वर हैं, सब कुछ करनेमें समर्थ हैं। इस भिक्षाको तो आप मुझे अवश्य ही दे दें।'

प्रभुने डबडबायी आँखोंसे कहा—'ठाकुर हरिदास! मालूम पड़ता है, अब तुम लीलासंवरण करना चाहते हो। देखो, यह बात ठीक नहीं। पुरीमें मेरा और कौन है? तुम्हारी ही सङ्गतिसे तो यहाँ पड़ा हुआ हूँ। हम-तुम साथ ही रहे, साथ ही सङ्कीर्तन किया, अब तुम मुझे अकेला छोड़कर जाओगे, यह ठीक नहीं है।'

धीरे-धीरे खिसककर प्रभुके पैरोंमें मस्तक रगड़ते हुए हरिदास कहने लगे—'प्रभो! ऐसी बात फिर कभी अपने श्रीमुखसे न निकालें। मेरा जन्म म्लेच्छकुलमें हुआ। जन्मका अनाथ, अनपढ़ और अनाश्रित, संसारसे तिरस्कृत और हीन कर्मोंके कारण अत्यन्त ही अधम, तिसपर भी आपने मुझे अपनाया; नरकसे लेकर स्वर्गमें बिठाया। बड़े-बड़े श्रोत्रिय ब्राह्मणोंसे सम्मान कराया, त्रैलोक्यपावन पुरुषोत्तमक्षेत्रका देवदुर्लभ वास प्रदान किया। प्रभो! इस दीन-हीन कंगालको रङ्कसे चक्रवर्ती बना दिया, यह आपकी ही सामर्थ्य है। आप करनी-न-करनी सभी कुछ कर सकते हैं। आपकी महिमाका पार कौन पा सकता है? मेरी प्रार्थना-को स्वीकार कीजिये और मुझे अपने मनोवाञ्छित वरदानको दीजिये।'

प्रभुने गद्गद कण्ठसे कहा—'हरिदास! तुम्हारी इच्छाके विरुद्ध करनेकी भला सामर्थ्य ही किसकी है? जिसमें तुम्हें सुख हो, वही करो।'

प्रभु इतना कहकर अपने स्थानको चले गये। महाप्रभुने गोविन्दसे कह दिया कि 'हरिदासकी खूब देख-रेख रक्खो, अब वे इस पाञ्चभौतिक शरीरको छोड़ना चाहते हैं।' गोविन्द प्रसाद लेकर रोज जाता था, किन्तु हरिदासजीकी भूख तो अब समाप्त हो गयी। फूटे हुए फोड़ेमें

महात्मा हरिदासजीका गोलोकगमन

पुलटिस बाँधनेसे लाभ ही क्या ? छिद्र हुए घड़ेमें जल रखनेसे प्रयोजन ही क्या ? उसमें अब जल सुरक्षित न रहेगा।

महाप्रभु नित्य हरिदासजीको देखने जाया करते थे। एक दिन उन्होंने देखा, हरिदासजीके शरीरकी दशा अत्यन्त ही शोचनीय है। वे उसी समय अपने आश्रमपर गये और उसी समय गोविन्दके द्वारा अपने सभी अन्तरङ्ग भक्तोंको बुलाया। सबके आ जानेपर प्रभु उन्हें साथ लिये हुए हरिदासजीके आश्रममें जा पहुँचे। हरिदासजी पृथ्वीपर पड़े हुए धीरे-धीरे—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

इस महामन्त्रका जप कर रहे थे। प्रभुने पूछा—'क्यों हरिदास! कहो, क्या हाल है?'

'सब आनन्द है प्रभो!' कहकर हरिदासने कष्टके साथ करवट बदली। महाप्रभु उनके मस्तकपर धीरे-धीरे हाथ फिराने लगे। राय रामानन्द, सार्वभौम भट्टाचार्य, स्वरूप दामोदर, वक्रेश्वर पण्डित, गदाधर गोस्वामी, काशीश्वर, जगदानन्द पण्डित आदि सभी अन्तरङ्ग भक्त हरिदासजीको चारों ओरसे घेरकर बैठ गये। धीरे-धीरे भक्तोंने संकीर्तन आरम्भ किया। भट्टाचार्य जोशमें आकर उठ खड़े हुए और जोरोंसे नृत्य करने लगे। अब तो सभी भक्त उठकर और हरिदासजीको घेरकर जोरोंके साथ गाने, बजाने और नाचने लगे। संकीर्तनकी कर्णप्रिय ध्वनि सुनकर सैकड़ों आदमी वहाँ एकत्रित हो गये। कुछ क्षणके अनन्तर प्रभुने संकीर्तन बंद करा दिया, भक्तोंके सहित हरिदासजीको चारों ओरसे घेरकर बैठ गये। प्रभुके दोनों कमलके समान नेत्रोंमें जल भरा हुआ था, कण्ठ शोकके कारण गद्गद हो रहा था। उन्होंने कष्टके साथ धीरे-धीरे रामानन्द तथा सार्वभौम आदि भक्तोंसे कहना आरम्भ किया—'हरिदासजीके भक्तिभावका बखान सहस्र

मुखवाले शेषनागजी भी अनन्त वर्षोंमें नहीं कर सकते। इनकी सहिष्णुता, जागरूकता, तितिक्षा और भगवन्नाममें अनन्यभावसे निष्ठा आदि सभी बातें परम आदर्श और अनुकरणीय हैं। इनका जैसा वैराग्य था वैसा सभी मनुष्योंमें नहीं हो सकता। कोटि-कोटि पुरुषोंमें कहीं खोजनेसे किसीमें मिल सके तो मिले, नहीं तो इन्होंने अपना आचरण असम्भव-सा ही बना लिया था।' यह कहकर प्रभु वेंतोंकी घटना, वेश्याकी घटना, नागकी घटना तथा इनके सम्बन्धकी और प्रलोभन-सम्बन्धी दैवी घटनाओंका वर्णन करने लगे। सभी भक्त इनके अनुपमेय गुणोंको सुनकर इनके पैरोंकी धूलिको मस्तकपर मलने लगे। उसी समय बड़े कष्टसे हरिदासजीने प्रभुको सामने आनेका सङ्केत किया। भक्तवत्सल चैतन्य उन महापुरुषके सामने बैठ गये। अबतक उनकी आँखें बंद थीं, अब उन्होंने दोनों आँखोंको खोल लिया और बिना पलक मारे अनिमेषभावसे वे प्रभुके श्रीमुखकी ओर निहारने लगे। मानो वे अपने दोनों बड़े-बड़े नेत्रोंद्वारा महाप्रभुके मनोहर मुखारविन्दके मकरन्दका तन्मयताके साथ पान कर रहे हों। उनकी दृष्टि महाप्रभुके श्रीमुखकी ओरसे क्षणभरको भी इधर-उधर हटती नहीं थी। सभी मौन थे, चारों ओर नीरवता और स्तब्धता छायी हुई थी। हरिदासजी अत्यन्त ही पिपासुकी तरह प्रभुकी मकरन्दमाधुरीको पी रहे थे। अब उन्होंने पासमें बैठे हुए भक्तोंकी धीरे-धीरे पदधूलि उठाकर अपने काँपते हुए हाथोंसे शरीरपर मली। उनकी दोनों आँखोंकी कोरोंमेंसे अश्रुओंकी बूँदें निकल-निकलकर पृथ्वीमें विलीन होती जाती थीं। मानो वे नीचेके लोकमें हरिदास-विजयोत्सवका संवाद देने जा रही हों। उनकी आँखोंके पलक गिरते नहीं थे, जिह्वासे धीरे-धीरे 'श्रीकृष्णचैतन्य, श्रीकृष्णचैतन्य' इन नामोंको उच्चारण कर रहे थे। देखते-ही-देखते उनके प्राणपखेरू इस जीर्ण-शीर्ण कलेवरको परित्याग करके न जाने किस लोककी ओर चले गये। उनकी

मुखवाले शेषनागजी भी अनन्त वर्षोंमें नहीं कर सकते। इनकी सहिष्णुता, जागरूकता, तितिक्षा और भगवन्नाममें अनन्यभावसे निष्ठा आदि सभी बातें परम आदर्श और अनुकरणीय हैं। इनका जैसा वैराग्य था वैसा सभी मनुष्योंमें नहीं हो सकता। कोटि-कोटि पुरुषोंमें कहीं खोजनेसे किसीमें मिल सके तो मिले, नहीं तो इन्होंने अपना आचरण असम्भव-सा ही बना लिया था।' यह कहकर प्रभु वेंतोंकी घटना, वेश्याकी घटना, नागकी घटना तथा इनके सम्बन्धकी और प्रलोभन-सम्बन्धी दैवी घटनाओंका वर्णन करने लगे। सभी भक्त इनके अनुपमेय गुणोंको सुनकर इनके पैरोंकी धूलिको मस्तकपर मलने लगे। उसी समय बड़े कष्टसे हरिदासजीने प्रभुको सामने आनेका सङ्केत किया। भक्तवत्सल चैतन्य उन महापुरुषके सामने बैठ गये। अबतक उनकी आँखें बंद थीं, अब उन्होंने दोनों आँखोंको खोल लिया और बिना पलक मारे अनिमेषभावसे वे प्रभुके श्रीमुखकी ओर निहारने लगे। मानो वे अपने दोनों बड़े-बड़े नेत्रोंद्वारा महाप्रभुके मनोहर मुखारविन्दके मकरन्दका तन्मयताके साथ पान कर रहे हों। उनकी दृष्टि महाप्रभुके श्रीमुखकी ओरसे क्षणभरको भी इधर-उधर हटती नहीं थी। सभी मौन थे, चारों ओर नीरवता और स्तब्धता छायी हुई थी। हरिदासजी अत्यन्त ही पिपासुकी तरह प्रभुकी मकरन्दमाधुरीको पी रहे थे। अब उन्होंने पासमें बैठे हुए भक्तोंकी धीरे-धीरे पदधूलि उठाकर अपने काँपते हुए हाथोंसे शरीरपर मली। उनकी दोनों आँखोंकी कोरोंमेंसे अश्रुओंकी बूँदें निकल-निकलकर पृथ्वीमें विलीन होती जाती थीं। मानो वे नीचेके लोकमें हरिदास-विजयोत्सवका संवाद देने जा रही हों। उनकी आँखोंके पलक गिरते नहीं थे, जिह्वासे धीरे-धीरे 'श्रीकृष्णचैतन्य, श्रीकृष्णचैतन्य' इन नामोंका उच्चारण कर रहे थे। देखते-ही-देखते उनके प्राणपखेरू इस नश्वर कलेवरको परित्याग करके न जाने किस लोककी ओर चले गये।

आँखें खुली-की-खुली ही रह गयीं, उनके फिर पलक गिरे नहीं। मीनकी तरह मानो वे पलकहीन आँखें, निरन्तररूपसे त्रैलोक्यको शीतलता प्रदान करनेवाले चैतन्यरूपी जलका आश्रय ग्रहण करके उसीकी ओर टकटकी लगाये अविच्छिन्नभावसे देख रही हैं। सभी भक्तोंने एक साथ हरिध्वनि की। महाप्रभु उनके प्राणहीन कलेवरको अपनी गोदीमें उठाकर जोरोंके साथ नृत्य करने लगे। सभी भक्त रुदन करते हुए 'हरि बोल, हरि बोल' की हृदयविदारक ध्वनिसे मानो आकाशके हृदयके भी टुकड़े-टुकड़े करने लगे। उस समयका दृश्य बड़ा ही करुणाजनक था। जहाँ चैतन्य हरिदासके प्राणहीन शरीरको गोदीमें लेकर रोते-रोते नृत्य कर रहे हों वहाँ अन्य भक्तोंकी क्या दशा हुई होगी, इसका पाठक ही अनुमान लगा सकते हैं। उसका कथन करना हमारी शक्तिके बाहरकी बात है।

इस प्रकार बड़ी देरतक भक्तोंके सहित प्रभु कीर्तन करते रहे। अनन्तर श्रीजगन्नाथजीका प्रसादी वस्त्र मँगाया गया। उससे उनके शरीरको लपेटकर उनका बड़ा भारी विमान बनाया गया। सुन्दर कलावेकी डोरियोंसे कसकर उनका शरीर विमानपर रखा गया। सैकड़ों भक्त खोल, करताल, झाँझ, मृदङ्ग और शङ्ख, घड़ियाल तथा घण्टा बजाते हुए विमानके आगे-आगे चलने लगे। सभी भक्त बारी-बारीसे हरिदासजीके विमानमें कन्धा लगाते थे। महाप्रभु सबसे आगे विमानके सामने अपना उन्मत्त नृत्य करते जाते थे। वे हरिदासकी गुणावलीका निरन्तर गान कर रहे थे। इस प्रकार खूब धूम-धामके साथ वे हरिदासजीके शवको लेकर समुद्रतटपर पहुँचे।

पान किया। सभी भक्तोंने हरिदासजीके पादोदकसे अपनेको कृतकृत्य समझा। बाद्में एक गड्ढा खोदकर उसमें हरिदासजीके शरीरको समाधिस्थ किया गया। क्योंकि वे संन्यासी थे, संन्यासीके शरीरकी शास्त्रोंमें ऐसी ही विधि बतायी है। प्रभुने अपने हाथोंसे गड्ढेमें बालू दी और उनकी समाधिपर सुन्दर-सा एक चबूतरा बनाया। सभीने शोकयुक्त प्रेमके आवेशमें उन्मत्त होकर समाधिके चारों ओर संकीर्तन किया और समुद्रस्नान करके तथा हरिदासजीकी समाधिकी प्रदक्षिणा करके सभीने पुरीकी ओर प्रस्थान किया। पथमें प्रभु हरिदासजीकी प्रशंसा करते-करते प्रेममें पागलोंकी भाँति प्रलाप करते जाते थे। सिंहद्वारपर पहुँचकर प्रभु रोते-रोते अपना अञ्चल पसार-पसारकर दूकानदारोंसे भिक्षा माँगने लगे। वे कहते थे—'भैया! मैं अपने हरिदासका विजयोत्सव मनाऊँगा, मुझे हरिदासके नामपर भिक्षा दो।' दूकानदार अपना-अपना सभी प्रसाद प्रभुकी झोलीमें डालने लगे। तब स्वरूपदामोदरजीने प्रभुका हाथ पकड़कर कहा—'प्रभो! यह आप क्या कर रहे हैं? भिक्षा माँगनेके लिये हम आपके सेवक ही बहुत हैं, आपको इस प्रकार माँगते देखकर हमें दुःख हो रहा है, आप चलिये। जित हैंगे उतना ही प्रसाद हमलोग माँग-माँगकर एकत्रित प्रभुके

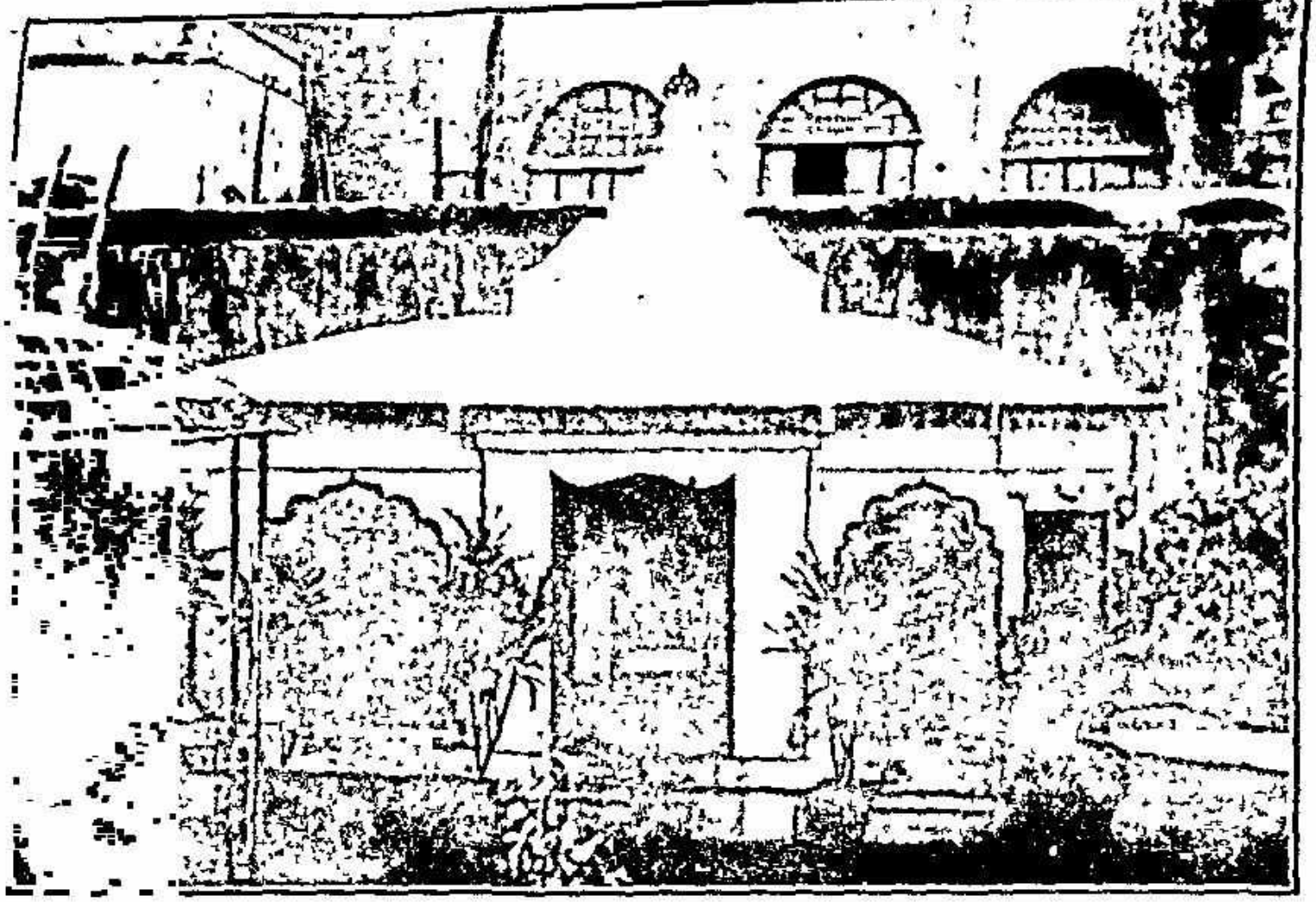

श्रीहरिदासजीका समाधि-मन्दिर

पान किया। सभी भक्तोंने हरिदासजीके पादोदकसे अपनेको कृतकृत्य समझा। बालूमें एक गड्ढा खोदकर उसमें हरिदासजीके शरीरको समाधिस्थ किया गया। क्योंकि वे संन्यासी थे, संन्यासीके शरीरकी शास्त्रोंमें ऐसी ही विधि बतायी है। प्रभुने अपने हाथोंसे गड्ढेमें बालू दी और उनकी समाधिपर सुन्दर-सा एक चबूतरा बनाया। सभीने शोकयुक्त प्रेमके आवेशमें उन्मत्त होकर समाधिके चारों ओर संकीर्तन किया और समुद्रस्नान करके तथा हरिदासजीकी समाधिकी प्रदक्षिणा करके सभीने पुरीकी ओर प्रस्थान किया। पथमें प्रभु हरिदासजीकी प्रशंसा करते-करते प्रेममें पागलोंकी भाँति प्रलाप करते जाते थे। सिंहद्वारपर पहुँचकर प्रभु रोते-रोते अपना अञ्चल पसार-पसारकर दूकानदारोंसे भिक्षा माँगने लगे। वे कहते थे—'भैया! मैं अपने हरिदासका विजयोत्सव मनाऊँगा, मुझे हरिदासके नामपर भिक्षा दो।' दूकानदार अपना-अपना सभी प्रसाद प्रभुकी झोलीमें डालने लगे। तब स्वरूपदामोदरजीने प्रभुका हाथ पकड़कर कहा—'प्रभो! यह आप क्या कर रहे हैं? भिक्षा माँगनेके लिये हम आपके सेवक ही बहुत हैं, आपको इस प्रकार माँगते देखकर हमें दुःख हो रहा है, आप चलिये। जितना भी आप चाहेंगे उतना ही प्रसाद हमलोग माँग-माँगकर एकत्रित कर देंगे।' इस प्रकार प्रभुको समझा-बुझाकर स्वरूप गोस्वामीने उन्हें स्थानपर भिजवा दिया और आप चार-पाँच भक्तोंको साथ लेकर दूकानोंपर महाप्रसाद माँगने चले। उस दिन दूकानदारोंने उदारताकी हद कर डाली। उनके पास जितना भी प्रसाद था, सभी दे डाला। इतनेमें ही वाणीनाथ, काशी मिश्र आदि बहुत-से भक्त मनों प्रसाद लेकर प्रभुके आश्रमपर आ उपस्थित हुए। चारों ओर महाप्रसादका ढेर लग गया। जो भी सुनता वही हरिदासजीके विजयोत्सवमें सम्मिलित होनेके लिये दौड़ा आता। इस प्रकार हजारों आदमी वहाँ एकत्रित हो गये। महाप्रभु स्वयं अपने हाथोंसे सभीको

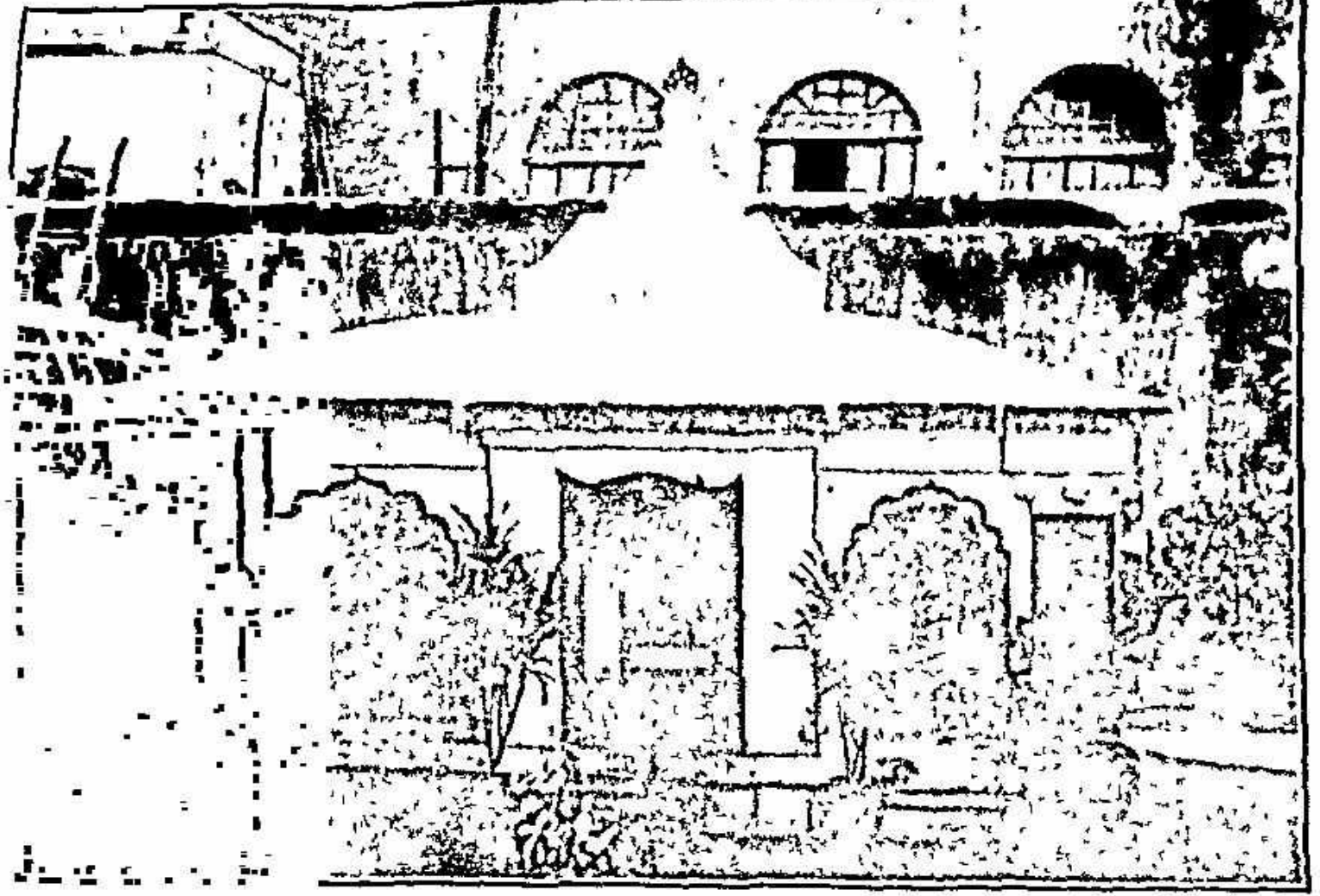

श्रीहरिदासजीका समाधि-मन्दिर

सिद्ध वकुल वृक्ष

परोसने लगे। महाप्रभुका परोसना विचित्र तो होता ही था। एक-एक पत्तलपर चार-चार, पाँच-पाँच आदमियोंके योग्य भोजन और तारीफकी बात यह कि लोग सभीको खा जाते थे। भक्तोंने आग्रहपूर्वक कहा—'जबतक महाप्रभु प्रसाद न पा लेंगे, तबतक हममेंसे कोई एक ग्रास भी मुँहमें न देगा।' तब प्रभुने परोसना बंद कर दिया और आप पुरी तथा भारती आदि संन्यासियोंके साथ काशी मिश्रके लाये हुए प्रसादको पाने लगे; क्योंकि उस दिन प्रभुका उन्हींके यहाँ निमन्त्रण था। महाप्रभुने सभी भक्तोंको खूब आग्रहपूर्वक भोजन कराया। सभीने प्रसाद पा लेनेके अनन्तर हरिध्वनि की। तब प्रभु ऊपरको हाथ उठाकर कहने लगे—'हरिदासजीका जिसने संग किया, जिसने उनके दर्शन किये, उनके गड्ढेमें बालू दी, उनका पादोदक पान किया, उनके विजयोत्सवमें प्रसाद-पाया, वह कृतार्थ हो गया। उसे श्रीकृष्णप्रेमकी प्राप्ति अवश्य ही हो सकेगी। वह अवश्य ही भगवत्कृपाका भाजन बन सकेगा।' यह कहकर प्रभुने जोरोंसे हरिदासजीकी जय बोली। 'हरिदासजीकी जय' के विशाल घोषसे आकाशमण्डल गूँजने लगा। हरि-हरि-ध्वनिके साथ हरिदासजीका विजयोत्सव समाप्त हुआ।

श्रीक्षेत्र जगन्नाथपुरीमें टोटा गोपीनाथजीके रास्तेमें समुद्रतीरपर अब भी हरिदासजीकी सुन्दर समाधि बनी है। वहाँपर एक बहुत पुराना बकुल (मौलसिर) का वृक्ष है, उसे 'सिद्ध बकुल' कहते हैं। ऐसी प्रसिद्धि है कि हरिदासजीने दातौन करके उसे गाड़ दिया था उसीसे यह वृक्ष हो गया। अब भी वहाँ प्रतिवर्ष अनन्त चतुर्दशीके दिवस हरिदासजीका विजयोत्सव मनाया जाता है। उन महामना हरिदासजीके चरणोंमें हम कोटि-कोटि प्रणाम करते हुए उनके इस विजयोत्सव प्रसंगको समाप्त करते हैं।

भक्त कालिदासपर प्रभुकी परमकृपा

नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रिं
स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः ।
महीयसां पादरजोऽभिषेकं
निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत् ॥*
(श्रीमद्भा० ७ । ५ । ३२)

वैष्णव-ग्रन्थोंमें 'भक्त-पद-रज', 'भक्त-पादोदक' और 'भक्तोच्छिष्ट द्रव्य' इन तीनोंका अत्यधिक माहात्म्य वर्णन किया गया है। श्रद्धालु भक्तोंने इन तीनोंको ही साधनबल बताया। सचमुच जिन्हें इन तीनों वस्तुओंमें पूर्ण श्रद्धा हो गयी, जिनकी बुद्धिमेंसे भक्तोंके प्रति भेदभाव मिट गया, जो भगवत्स्वरूप समझकर सभी भक्तोंकी पदधूलिको श्रद्धा-पूर्वक सिरपर चढ़ाने लगे तथा भक्तोंके पादोदकको भक्तिभावसे पान

* जिन्होंने सब कुछ त्याग दिया है, ऐसे परम पूजनीय भगवद्भक्त महापुरुषोंके चरणोंके नीचेकी धूलिको जबतक सर्वाङ्गमें लगाकर उसमें स्नान न किया जाय तबतक किसीको भी प्रभुपादपद्मोंकी प्रीति प्राप्त नहीं हो सकती।

करने लगे, वे निहाल हो गये, उनके लिये भगवान् फिर दूर नहीं रह जाते। उनकी पदधूलिकी लालसासे भगवान् उनके पीछे-पीछे घूमते रहते हैं, किन्तु इन तीनोंमें पूर्ण श्रद्धा होना ही तो महाकठिन है। महाप्रसाद, गोविन्द, भगवन्नाम और वैष्णवोंके श्रीविग्रहमें पूर्ण विश्वास भगवत्-कृपापात्र किसी विरले ही महापुरुषको होता है। यों दूध पीनेवाले बनावटी मजनू तो बहुत-से घूमते हैं। उनकी परीक्षा तो कटोराभर खून माँगनेपर ही हो सकती है। वे महापुरुष धन्य हैं, जो भक्तोंकी जाति-पाँति नहीं पूछते। भगवान्‌में अनुराग रखनेवाले सच्चे भगवत्-भक्तको वे ईश्वर-तुल्य ही समझकर उनकी सेवा-पूजा करते हैं। भक्तप्रवर श्रीकालिदास ऐसे ही परम भागवत भक्तोंमेंसे एक जगद्वन्द्य श्रद्धालु भक्त थे। उनकी अद्वितीय भक्तिनिष्ठाको सुनकर सभीको परम आश्चर्य होगा।

कालिदासजी जातिके कायस्थ थे। इनका घर श्रीरघुनाथदासजीके गाँवसे कोस-डेढ़-कोस भेदा या भदुआ नामक ग्राममें था। जाति-सम्बन्धसे ये रघुनाथदासजीके समीपी और सम्बन्धी थे। भगवन्नाममे इनकी अनन्य निष्ठा थी। उठते-बैठते, सोते-जागते, हँसते-खेलते तथा बातें करते-करते भी सदा इनकी जिह्वापर भगवन्नाम ही विराजमान रहता। हरे कृष्ण हरे रामके बिना ये किसी बातको कहते ही नहीं थे। भगवत्-भक्तोंके प्रति इनकी ऐसी अद्भुत निष्ठा थी, कि जहाँ भी किसी भगवत्-भक्तका पता पाते वहीं दौड़े जाते और यथाशक्ति उनकी सेवा करते। भक्तोंको अच्छे-अच्छे पदार्थ खिलानेमें इन्हें परमानन्दका अनुभव प्राप्त होता। भक्तोंको जब ये श्रद्धापूर्वक सुस्वादु पदार्थ खिलाते तो उनके दिव्य स्वादोंका ये स्वयं भी अनुभव करते। स्वयं खानेसे इन्हें इतनी प्रसन्नता नहीं होती, जितनी कि भक्तोंको खिलानेसे। भक्तोंको खिलाकर ये स्वयं उनका उच्छिष्ट महाप्रसाद पाते, कोई-कोई भक्त संकोचवश

इन्हें अपना उच्छिष्ट नहीं देता तो ये उसके बर्तनोंको ही चाटते। उसी महाप्रसादको पाकर ये अपनेको कृतार्थ समझते। निरन्तर भगवन्नामोंका जप करते रहना, भक्तोंका पादोदक पान करना, उनकी पदधूलिको मस्तकपर चढ़ाना और उनके उच्छिष्ट महाप्रसादको पूर्ण श्रद्धाके साथ पाना ही ये इनके साधनबल थे। इनके अतिरिक्त ये योग, यज्ञ, तप, पूजा, पाठ, अध्ययन और अभ्यास आदि कुछ भी नहीं करते थे। इनका विश्वास था कि हमें इन्हीं साधनोंके द्वारा प्रभुपादपद्मोंकी प्रीति प्राप्त हो जायगी। ऐसा इन्हें दृढ़ विश्वास था, इसमें बनावटकी गन्धतक भी नहीं थी।

इनके गाँवमें ही, एक झाड़ू नामके भूमिमाली जातिके शूद्र भगवत्-भक्त थे। उनकी पत्नी भी अत्यन्त ही पतिपरायणा सती-साध्वी नारी थी। दोनों ही खूब भक्तिभावसे श्रीकृष्णकीर्तन किया करते थे। एक दिन भक्त कालिदासजी उन दोनों भक्तदम्पतीके दर्शनोंके निमित्त उनके घरपर गये। उन दिनों आमोंकी फसल थी, इसलिये वे उनकी भेंटके लिये बहुत बढ़िया-बढ़िया सुन्दर आम ले गये थे। प्रतिष्ठित कुलोद्भूत कालिदासको अपनी टूटी झोंपड़ीमें आया देखकर उस भक्तदम्पतीके आश्चर्यका ठिकाना नहीं रहा। उन दोनोंने उठकर कालिदासजीकी अभ्यर्थना की और उन्हें बैठनेके लिये एक फटा-सा आसन दिया। कालिदासजीके सुखपूर्वक बैठ जानेपर कुछ लज्जितभावसे अत्यन्त ही कृतज्ञता प्रकट करते हुए झाड़ू भक्त कहने लगे—'महाराज! आपने अपनी पदधूलिसे इस शूद्राधमकी कुटीको परम पावन बना दिया। आप-जैसे श्रेष्ठ पुरुषोंका हम-जैसे नीच जातिके पुरुषोंके यहाँ आना साक्षात् भगवान्‌के पधारनेके समान है। हम एक तो वैसे ही शूद्र हैं दूसरे धन-हीन, फिर आपकी किस प्रकार सेवा करें। आप-जैसे अतिथि हमारे यहाँ

काहेको आने लगे, हम आपका सत्कार किस वस्तुसे करें। आज्ञा हो तो किसी ब्राह्मणके यहाँसे कोई वस्तु बनवा लावें।'

कालिदासजीने कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहा—'आप दोनोंके शुभ दर्शनोंसे ही मेरा सर्वश्रेष्ठ सत्कार हो चुका। यदि आप कृपा करके कुछ करना ही चाहते हैं, तो यही कीजिये कि अपने चरणोंको मेरे मस्तकपर रखकर उनकी पावन परागसे मेरे मस्तकको पवित्र बना दीजिये। यही मेरी आपसे प्रार्थना है, इसीके द्वारा मुझे सब कुछ मिल जायगा।'

अत्यन्त ही दीनताके साथ गिड़गिड़ाते हुए झाड़ू भक्तने कहा—'स्वामी! आप यह कैसी भूली-भूली-सी बातें कर रहे हैं। भला, हम जातिके शूद्र, धर्म-कर्मसे हीन, आपके शरीरको स्पर्श करनेतकके भी अधिकारी तो नहीं हैं, फिर हम आपको अपने पैर कैसे छुआ सकते हैं। हमारी यही आपसे प्रार्थना है कि ऐसी पाप चढ़ानेवाली बात फिर आप कभी भी अपने मुँहसे न निकालें। इससे हमारे सर्वनाश होनेकी सम्भावना है।'

कालिदासजीने कहा—'जो भगवान्‌का भक्त है, उसकी कोई जाति नहीं होती। वह तो जातिबन्धनोंसे परे होता है। उससे श्रेष्ठ कोई नहीं होता, वही सबसे श्रेष्ठ होता है। इसलिये आप जाति-कुलका भेदभाव न करें। आप परम भागवत हैं, आपकी पदधूलिसे मैं पावन हो जाऊँगा, आप मेरे ऊपर अवश्य कृपा करें।

झाड़ू भक्तने कहा—'मालिक! आपकी इस बातको मैं मानता हूँ, कि भगवद्भक्त वर्ण और आश्रमोंसे परे होता है। वह सबका गुरु और पूजनीय होता है, उससे बढ़कर कोई भी नहीं होता, किन्तु वह भक्त

होना चाहिये। मैं अधम भला भक्तिभाव क्या जानूँ। मुझे तो भगवान्‌में तनिक भी प्रीति नहीं। मैं तो संसारी गर्तमें फँसा हुआ नीच विषयी पुरुष हूँ।'

कालिदासजीने कहा—'सचमुच सच्चे भक्त तो आप ही हैं। जो अपनेको भक्त मानकर सबसे अपनी पूजा कराता है, अपने भक्तिभावका विज्ञापन बाँटता फिरता है, वह तो भक्त नहीं दूकानदार है, भक्तिके नाम-पर पूजा-प्रतिष्ठा खरीदनेवाला बनिया है। सच्चा भक्त तो आपकी तरह सदा अमानी, अहंकाररहित सदा दूसरोंको मान प्रदान करनेवाला होता है, उसे इस बातका स्वप्नमें भी अभिमान नहीं होता कि मैं भक्त हूँ। यही तो उसकी महानता है। आप छिपे हुए सच्चे भगवद्भक्त हैं। हीन कुलमें उत्पन्न होकर आपने अपनेको छिपा रखा है, फिर भी भक्ति ऐसी अलौकिक कस्तूरी है कि वह कितनी भी क्यों न छिपायी जाय, सच्चे पारखी तो उसे पहचान ही लेते हैं। कृपा करके अपनी चरणधूलिसे मेरे अंगको पवित्र बना दीजिये।

इस प्रकार कालिदासजी बहुत देरतक उनसे आग्रह करते रहे, किन्तु झाड़ू भक्तने उसे स्वीकार नहीं किया। अन्तमें वे दोनों पति-पत्नीको श्रद्धापूर्वक प्रणाम करके उनसे विदा हुए। झाड़ू भक्तने शिष्टाचारके अनुसार उन्हें थोड़ी दूर घरसे बाहरतक पहुँचानेके लिये उनके पीछे-पीछे आये। जब कालिदासजीने उनसे आग्रहपूर्वक लौट जानेको कहा तो वे लौट गये। कालिदासजी वहीं खड़े रहे। झाड़ू भक्त जब अपनी कुटियामें घुस गये तब जिस स्थानपर उनके चरण पड़े थे, उस स्थानकी धूलिको उठाकर उन्होंने अपने सम्पूर्ण शरीरपर लगाया और एक ओर घरके बाहर छिपकर बैठ गये।

रात्रिका समय था। झाड़ू भक्तकी स्त्रीने अपने पतिसे कहा—'कालिदासजी ये प्रसादी आम दे गये हैं, इन्हें भगवत्-अर्पण करके पा लो। भक्तका दिया हुआ प्रसाद है—इसके पानेसे कोटि जन्मोंके पाप कटते हैं।'

झाड़ू भक्तने उल्लासके साथ कहा—'हाँ, हाँ, उन आमोंको अवश्य लाओ। उनके पानेसे तो श्रीकृष्ण-प्रेमकी प्राप्ति होगी।'

पतिकी आज्ञा पाते ही पतिपरायणा पत्नी उन आमोंकी टोकरीको उठा लायी। झाड़ूने मनसे ही आमोंको भगवत्-अर्पण किया और फिर उन्हें प्रसाद समझकर पाने लगे। उनके चूस लेनेपर जो बचता उसे उनकी पतिव्रता स्त्री चूसती जाती और गुठली तथा छिलकोंको बाहरकी ओर फेंकती जाती। पीछे छिपे हुए कालिदासजी उन गुठलियोंको उठा-उठाकर चूसते और उनमें वे अमृतके समान स्वादका अनुभव करते। इस प्रकार भक्तोंके उच्छिष्ट प्रसादको पाकर अपनेको कृतार्थ समझकर वे बहुत रात्रि बीते अपने घर आये।

इस प्रकारकी इनकी भक्तोंके प्रति अनन्य श्रद्धा थी। एक बार गौडीय भक्तोंके साथ वे भी नीलाचलमें प्रभुके दर्शनोंके लिये पधारे। इनके ऐसे भक्तिभावकी बातें सुनकर प्रभु इनसे अत्यधिक सन्तुष्ट हुए और इन्हें बड़े ही सम्मानके साथ अपने पास रखा।

महाप्रभु जब जगन्नाथजीके मन्दिरमें दर्शनोंके लिये जाते, तब सिंहद्वारके समीप वे एक गड्ढेमें पैर धोया करते थे। गोविन्द उनके साथ ही जाता था। प्रभुने कठोर आज्ञा दे रखी थी कि यहाँ हमारे पादोदकको कोई भी पान न करे इसलिये वहाँ जाकर प्रभुके पादोदक पान करने-

का साहस किसीको भी नहीं होता था। किन्तु भक्तोंका पादोदक और भक्तभुक्त अन्न ही जिनके साधनका एकमात्र बल है, वे कालिदासजी भला कब माननेवाले थे। वे निर्भीक होकर प्रभुके समीप चले गये और उनके पैर धोये हुए जलको पीने लगे। एक चुल्लू पीया, प्रभु चुपचाप उनके मुखकी ओर देखते रहे। दूसरा चुल्लू पीया, प्रभु थोड़े-से मुस्कराये, तीसरा चुल्लू पीया, प्रभु जोरोंसे हँस पड़े। चौथे चुल्लूके लिये ज्यों ही उन्होंने हाथ बढ़ाया त्यों ही प्रभुने उनका हाथ पकड़ लिया और कहने लगे—'बस, बहुत हुआ। अब फिर कभी ऐसा साहस न करना।' इस प्रकार अपनेको बड़भागी समझते हुए कालिदासजी जगन्नाथजी-के दर्शन करते हुए प्रभुके साथ-ही-साथ अपने निवासस्थानपर आये। महाप्रभुने भिक्षा पायी और भिक्षा पानेके अनन्तर सङ्केतसे गोविन्दको आज्ञा दे दी कि कालिदासजीको हमारा उच्छिष्ट प्रसाद दे दो। प्रभुका सङ्केत समझकर गोविन्दने कालिदासजीको प्रभुका उच्छिष्ट महाप्रसाद दे दिया। पादोदकके अनन्तर प्रभुके अधरामृतसिञ्चित उच्छिष्ट प्रसाद-को पाकर उनकी प्रसन्नताका वारापार नहीं रहा। धन्य है, ऐसे भक्ति-भावको और धन्य है उनके ऐसे देवदुर्लभ सौभाग्यको, जिनके लिये महाप्रभुने स्वयं उच्छिष्ट प्रसाद देनेकी आज्ञा प्रदान की।

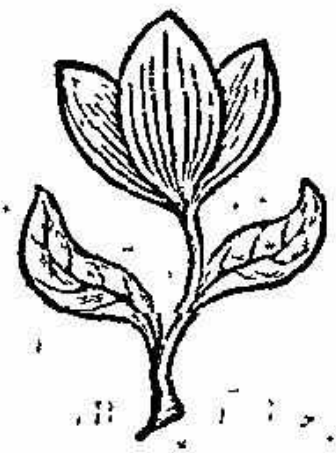

जगदानन्दजीके साथ प्रेम-कलह

अनिर्दयोपभोगस्य रूपस्य मृदुनः कथम्।
कठिनं खलु ते चेतः शिरीषस्येव बन्धनम्॥*

(सु० र० भां० ३१९।१)

प्रेम-कलहमें कितना मिठास है, इसका अनुभव प्रेमी हृदय ही कर सकता है। यदि प्रेममेंसे कलह पृथक् कर दी जाय तो उसका स्वाद उसी प्रकारका होगा जिस प्रकार चीनी निकालकर भाँति-भाँतिके मेवा डालकर बनाये हुए हलुएका। चीनीके बिना जिस प्रकार खूब घी डालकर बनाया हुआ भी हलुआ स्वादिष्ट और चित्तको प्रसन्नता प्रदान करनेवाला नहीं होता उसी प्रकार जबतक बीच-बीचमें मधुर-मधुर कलह-का सम्पुट न लगता रहे, तबतक उसमें निरन्तर रस नहीं आता। प्रणय-कलह प्रेमको नित्य नूतन बनाती रहती है। कलह प्रेमरूपी कभी न फटनेवाली चद्दरकी सज्जी है, वह उसे समय-समयपर धोकर खूब साफ बनाती रहती है। किन्तु यह कलह मधुरभावके उपासकोंमें ही भूषण समझी जाती है, अन्य भावोंमें तो इसे दूषण कहा है।

---

* तुम्हारा रूप तो दयाभावसे धीरे-धीरे उपभोग करनेयोग्य अत्यन्त ही मृदुल है, परन्तु चित्त शिरीष-पुष्पके बन्धनकी भाँति इतना कठोर क्यों है? [जैसे शिरीषके फूलोंकी पंखुड़ियाँ कितनी मुलायम, कितनी कोमल तथा सुखस्पर्शयुक्त होती हैं। कामिनियाँ अपने कोमल करकमलोंकी अत्यन्त ही मुलायम उँगलियोंसे भी डरते-डरते छूती हैं कि उन्हें कष्ट न हो, तिसपर भी जिसमें वे पंखुड़ियाँ बँधी रहती हैं, वह बन्धन कितना अधिक कठोर होता है। विधाताकी विचित्र गति है।]

पण्डित जगदानन्दजीको पाठक भूले न होंगे, ये नवद्वीपमें श्रीनिवास पण्डितके यहाँ प्रभुके साथ सदा कीर्तनमें सम्मिलित होते थे। संन्यास ग्रहण करके जब प्रभु पुरीके लिये पधारे तो ये भी प्रभुका दण्ड लिये हुए एक साधारण सेवककी भाँति उनके पीछे-पीछे चले और रास्तेभर ये स्वयं भिक्षा माँगकर प्रभु तथा अन्य सभी साथियोंको भोजन बनाकर खिलाते थे। प्रभुके पहले वृन्दावन जानेपर ये भी साथ चले थे। और फिर रामकेलिसे ही उनके साथ लौट भी आये थे। प्रभुके नीलाचलमें स्थायी रहनेपर ये भी वहाँ स्थायीरूपसे रहने लगे। बीच-बीचमें प्रभुकी आज्ञासे शचीमाताके लिये भगवान्‌का प्रसादी वस्त्र और महाप्रसाद लेकर ये नवद्वीप आया-जाया भी करते थे। प्रभुके प्रति इनका अत्यन्त ही मधुरभाव था। भक्त इनके अत्यन्त ही कोमल मधुरभावको देखकर इन्हें सत्यभामाका अवतार बताया करते थे और सचमुच इनकी उपासना थी भी इसी भावकी। ये प्रभुके संन्यासकी कुछ भी परवा नहीं करते थे। ये चाहते थे, प्रभु खूब अच्छे-अच्छे पदार्थ खायँ, सुन्दर-सुन्दर वस्त्र पहनें और अच्छे-अच्छे स्वच्छ और सुन्दर आसनोंपर शयन करें। प्रभु यतिधर्मके विरुद्ध इन वस्तुओंका सेवन करना चाहते नहीं थे। बस, इसी बातपर कलह होती! कलहका प्रधान कारण यही था कि जगदानन्द प्रभुके शरीरकी तनिक-सी भी पीड़ाको सहन नहीं कर सकते थे और प्रभु शरीर-पीड़ाकी कभी परवा ही नहीं करते थे। जगदानन्दजी अपने प्रेमके उद्रेकमें प्रभुसे कड़ी बातें भी कह देते और प्रभु भी इनसे सदा डरते-से रहते!

एक बार ये महाप्रसाद और वस्त्र लेकर नवद्वीपमें शचीमाताके समीप गये। माता इन्हें देखकर अपने निमाईके दर्शनोंका अनुभव करती थी और सभी गौरभक्त भी इनके दर्शनोंसे श्रीचैतन्य-चरणोंके दर्शनोंका-सा आनन्द प्राप्त करते। ये जाते तो सभी भक्तोंसे मिलकर ही

आते। नवद्वीपसे आचार्यके घर शान्तिपुर होते हुए ये शिवानन्दजी सेन-के घर भी गये। वहाँसे ये एक कलस सुगन्धित चन्दनादि तैल प्रभुके निमित्त लेते आये। प्रभु सदा भावमें विभोर-से रहते। उनके अङ्ग-प्रत्यङ्गोंकी नसें ढीली हो जातीं और सम्पूर्ण शरीरमें पीड़ा होने लगती। इन्होंने सोचा कि इस तैलसे प्रभुकी वातपित्तजन्य सभी व्याधियाँ शान्त हो जाया करेंगी। प्रेमके आवेशमें पण्डित होकर भी ये इस बातको भूल गये कि संन्यासीके लिये तैल लगाना शास्त्रोंमें निषेध है। प्रेममें युक्तायुक्त-विचारणा रहती ही नहीं। प्रेमीके लिये कोई लौकिक नियम नहीं, उसकी मथुरा तो तीन लोकसे न्यारी है। जगदानन्दजीने तैल लाकर गोविन्दको दे दिया और उससे कह दिया कि इसे प्रभुके अङ्गोंमें मल दिया करना।

गोविन्दने प्रभुसे निवेदन किया—'प्रभो! जगदानन्द पण्डित गौड़देशसे यह चन्दनादि तैल लाये हैं और शरीरमें मलनेके लिये कह गये हैं। अब जैसी आज्ञा हो वैसा ही मैं करूँ।'

प्रभुने कहा—'एक तो जगदानन्द पागल हैं, उनके साथ तू भी पागल हो गया। भला, संन्यासी होकर कहीं तैल लगाया जाता है, फिर तिसपर भी सुगन्धित तैल!' रास्तेमें जाते हुए देखेंगे, वे ही कहेंगे—'यह शौकीन संन्यासी कैसा शृंगार करता है। सभी विषयी कहकर मेरी निन्दा करेंगे। मुझे ऐसा तैल लगाना ठीक नहीं है।' गोविन्द इस उत्तरको सुनकर चुप हो गया।

दो-चार दिनके पश्चात् जगदानन्दजीने गोविन्दसे पूछा—'गोविन्द! तुमने वह तैल प्रभुके शरीरमें लगाया नहीं?'

गोविन्दने कहा—'वे लगाने भी दें तब तो लगाऊँ! वे तो मुझे डाँटते थे।'

जगदानन्दजीने धीरेसे कहा—'अरे ! तैने भी उनके डाँटनेका खूब खयाल किया ! वे तो ऐसे कहते ही रहेंगे, तू लगा देना । मेरा नाम ले देना ।'

गोविन्दने कहा—'पण्डितजी ! ऐसे लगानेका तो मेरा साहस नहीं है । हाँ, आप कहते हैं तो एक बार फिर निवेदन करूँगा ।'

दो-चार दिनके पश्चात् एकान्तमें अत्यन्त ही दीनताके साथ गोविन्दने कहा—'प्रभो ! वे बेचारे कितना परिश्रम करके इतनी दूरसे तैलको लाये हैं, थोड़ा-सा लगा लीजिये । उनका भी मन रह जायगा और फिर यह तो ओषधि है, रोगके लिये ओषधि लगानेमें क्या दोष ?'

प्रभुने प्रेमके रोषमें कहा—'तुम सब तो मिलकर मुझे अपने धर्मसे च्युत करना चाहते हो । आज सुगन्धित तैल लगानेको कह रहे हो, कल कहोगे कि एक मालिस करनेवाला और रख लो । जगदानन्दकी तो बुद्धि बिगड़ गयी है, पण्डित होकर उन्हें इतना ज्ञान नहीं कि संन्यासीके लिये सुगन्धित तैल छूना भी महापाप है । वे यदि परिश्रम करके लाये हैं, तो इसे जगन्नाथजीके मन्दिरमें दे आओ । वहाँ दीपकोंमें जल जायगा । उनका परिश्रम भी सफल हो जायगा और भगवत्-पूजामें काम आनेसे यह तैल भी सार्थक हो जायगा ।' गोविन्द प्रभुकी मीठी फटकारको सुनकर एकदम चुप हो गया, फिर उसने एक भी शब्द तैलके सम्बन्धमें नहीं कहा ।

गोविन्दने सभी बातें जाकर जगदानन्दजीसे कह दीं । दूसरे दिन जगदानन्दजी मुँह फुलाये हुए कुछ रोषमें भरे हुए प्रभुके समीप आये । प्रभु उनके हाव-भावको ही देखकर समझ गये कि ये जरूर कुछ खरी-खोटी सुनाने आये हैं, इसलिये उन्होंने पहले-से-पहले ही प्रसङ्ग छेड़ दिया । वे अत्यन्त ही स्नेह प्रकट करते हुए धीरे-धीरे मधुर वचनोंमें

जगदानन्दजीसे कहने लगे—'जगदानन्दजी ! आप गौड़देशसे बड़ा सुन्दर तैल लाये हैं। मेरी तो इच्छा होती है, थोड़ा-सा इसमेंसे लगाऊँ, किन्तु क्या करूँ, संन्यास धर्मसे विवश हूँ। आप स्वयं ही पण्डित हैं, यह बात आपसे छिपी थोड़े ही है कि संन्यासीके लिये सुगन्धित तैल लगाना महापाप है। इसीलिये मैं लगा नहीं सकता। आप एक काम करें, इस तैलको जगन्नाथजीकी भेंट कर आइये, वहाँ इसके दीपक जल जायँगे, आपका सभी परिश्रम सफल हो जायगा।'

जगदानन्दजीने कुछ रोषके स्वरमें कहा—'आपसे यह बिना सिर-पैरकी बात कहे किसने दी। मैं कब तैल लाया हूँ ?'

प्रभुने हँसते-हँसते कहा—'आप सच्चे, मैं झूठा। इस तैलके कलस-को मेरे यहाँ कोई देवदूत रख गया।'

यह सुनकर जगदानन्दजी रोषमें उठे और उस तैलके कलसको उठाकर जोरसे आँगनमें दे मारा। कलस आँगनमें गिरते ही चकनाचूर हो गया। सम्पूर्ण तैल आँगनमे बहने लगा। कलसको फोड़कर जगदा-नन्दजी जल्दीसे अपने घरको चले गये और भीतरसे घरके किवाड़ बंद करके पड़ रहे। दो दिनतक न तो अन्न-जल ग्रहण किया और न बाहर ही निकले। प्रणयकोपमें भीतर ही पड़े रहे।

तीसरे दिन प्रभु स्वयं उनके घर पहुँचे और किवाड़ खटखटाकर बोले—'पण्डित ! पण्डित ! भीतर क्या कर रहे हैं, बाहर तो आइये, आपसे एक बात कहनी है।' किन्तु पण्डित किसकी सुनते हैं, वे तो खटपाटी लिये पड़े हैं।

तब प्रभुने उसी स्वरमें बाहर खड़े-ही-खड़े कहा—'देखिये, मैं आपके द्वारपर भिक्षाके लिये खड़ा हूँ और आप किवाड़ भी नहीं खोलते। अतिथि जिसके आश्रमसे निराश होकर लौट जाता है, वह उस मनुष्यके

जगदानन्दजीने धीरेसे कहा—'अरे ! तैंने भी उनके डाँटनेका खूब खयाल किया ! वे तो ऐसे कहते ही रहेंगे, तू लगा देना। मेरा नाम ले देना।'

गोविन्दने कहा—'पण्डितजी ! ऐसे लगानेका तो मेरा साहस नहीं है। हाँ, आप कहते हैं तो एक बार फिर निवेदन करूँगा।'

दो-चार दिनके पश्चात् एकान्तमें अत्यन्त ही दीनताके साथ गोविन्दने कहा—'प्रभो ! वे बेचारे कितना परिश्रम करके इतनी दूरसे तैलको लाये हैं, थोड़ा-सा लगा लीजिये। उनका भी मन रह जायगा और फिर यह तो ओषधि है, रोगके लिये ओषधि लगानेमें क्या दोष ?'

प्रभुने प्रेमके रोषमें कहा—'तुम सब तो मिलकर मुझे अपने धर्मसे च्युत करना चाहते हो। आज सुगन्धित तैल लगानेको कह रहे हो, कल कहोगे कि एक मालिस करनेवाला और रख लो। जगदानन्दकी तो बुद्धि बिगड़ गयी है, पण्डित होकर उन्हें इतना ज्ञान नहीं कि संन्यासीके लिये सुगन्धित तैल छूना भी महापाप है। वे यदि परिश्रम करके लाये हैं तो इसे जगन्नाथजीके मन्दिरमें दे आओ। वहाँ दीपकोंमें जल जायगा, उनका परिश्रम भी सफल हो जायगा और भगवत्-पूजामें काम आ यह तैल भी सार्थक हो जायगा।' गोविन्द प्रभुकी मीठी फटक सुनकर एकदम चुप हो गया, फिर उसने एक भी शब्द तैलके सम्ब नहीं कहा।

गोविन्दने सभी बातें जाकर जगदानन्दजीसे कह दीं। दू जगदानन्दजी मुँह फुलाये हुए कुछ रोषमें भरे हुए प्रभुके समी प्रभु उनके हाव-भावको ही देखकर समझ गये कि ये जरूर खोटी सुनाने आये हैं, इसलिये उन्होंने पहले-से-पहले ही दिया। वे अत्यन्त ही स्नेह प्रकट करते हुए धीरे-धीरे

जगदानन्दजीने हँसकर कहा—'पाइये पाइये, देखिये भात ठण्डा हुआ जाता है।'

प्रभुने कहा—'चाहे ठण्डा हो या गरम जबतक आप मेरे साथ बैठकर न पावेंगे, तबतक मैं कभी भी न पाऊँगा। अपने लिये एक पत्तल और परोसिये।'

जगदानन्दजीने मानमिश्रित हास्यके स्वरमें कहा—'पाइये भी, मेरी क्या बात है, मैं तो पीछे ही पाता हूँ, सो आपके पा लेनेपर पाऊँगा।'

प्रभुने कहा—'चाहे सदा पीछे ही क्यों न पाते हैं, आज तो मेरे साथ ही पाना पड़ेगा।'

जगदानन्दजीने कुछ गम्भीरताके स्वरमें कहा—'प्रभो! मैंने और रमाई, रघुनाथ आदि सभीने तो बनाया है। इन्हें प्रसाद देकर तब मैं पा सकता हूँ। अब आपकी आज्ञाको टाल थोड़े ही सकता हूँ। अवश्य पा लूँगा।'

यह सुनकर प्रभु प्रसाद पाने लगे। जो पदार्थ चुक जाता उसे ही जगदानन्दजी फिर उतना ही परोस देते। इस भयसे कि जगदानन्दजी नाराज हो जायँगे, प्रभु मना भी नहीं करते और उनकी प्रसन्नताके निमित्त खाते ही जाते। और दिनोंकी अपेक्षा कई गुना अधिक खा गये, तो भी जगदानन्द मानते नहीं हैं, तब प्रभुने दीनताके-से स्वरमें कहा—'बाबा! अब दया भी करोगे या नहीं। अन्य दिनोंकी अपेक्षा दस गुना तो खा गया, अब कबतक और खिलाते जाओगे!' इतना कहकर प्रभुने भोजन समाप्त किया। जगदानन्दजीने मुखशुद्धिके लिये लौंग, इलायची और हरीतकीके टुकड़े दिये। प्रभु उन्हें खाते हुए फिर वहीं बैठ गये और कहने लगे—'जबतक आप मेरे सामने प्रसाद न पा लेंगे तबतक मैं यहाँसे नहीं हटूँगा।'

जगदानन्दजीने हँसकर कहा—'अब आप इतनी चिन्ता क्यों

सभी पुण्योंको लेकर चला जाता है। देखिये, आज मेरी आपके यहाँ भिक्षा है, जल्दीसे तैयार कीजिये, मैं समुद्रस्नान और भगवान्‌के दर्शन करके अभी आता हूँ।' प्रभु इतना कहकर चले गये। अब जगदानन्दजी-का क्रोध कितनी देर रह सकता था। 'प्रभुके लिये भिक्षा बनानी है' बस, इस विचारके आते ही, न जाने उनका क्रोध कहाँ चला गया। वे जल्दीसे उठे। उठकर शौचादिसे निवृत्त होकर स्नान किया और रघुनाथ, रमाई पण्डित तथा और भी अपने साथी दो-चार गौड़ीय विरक्त भक्तोंको बुलाकर वे प्रभुकी भिक्षाका प्रबन्ध करने लगे। भोजन बनानेमें तो वे परम प्रवीण थे ही, भाँति-भाँतिके बहुत-से सुन्दर-सुन्दर पदार्थ उन्होंने प्रभुके लिये बना डाले। अभी वे पूरे पदार्थोंको बना भी नहीं पाये थे, कि इतनेमें ही मुसकराते हुए प्रभु स्वयं आ उपस्थित हुए। मनमें अत्यन्त ही प्रसन्न होते हुए और ऊपरसे हास्यसे युक्त किञ्चित् रोषयुक्त मुखसे उन्होंने एक बार प्रभुकी ओर देखा और फिर शाकको उलटने-पुलटने लगे। प्रभु जल्दीसे एक आसन स्वयं ही लेकर बैठ गये। अब तो जगदानन्दजी उठे। उन्होंने नीची दृष्टि किये हुए वहीं बैठे-ही-बैठे एक थालमें प्रभुके पादपद्मोंको पखारा। प्रभुने इसमें तनिक भी आपत्ति नहीं की। फिर उन्होंने भाँति-भाँतिके पदार्थोंको सजाकर प्रभुके सामने परोसा। प्रभु चुपचाप बैठे रहे। जगदानन्दजीका अब मौन भंग हुआ। उन्होंने अपनी हँसीको भीतर-ही-भीतर रोकते हुए लज्जायुक्त मधुर वाणीसे अपनापन प्रकट करते हुए कहा—'प्रसाद पाते क्यों नहीं हैं!'

प्रभुने कहा—'मैं नहीं पाऊँगा।'

जगदानन्दजीने उसी भावसे नीची दृष्टि किये हुए कहा—'तब आये क्यों थे, कोई बुलाने भी तो नहीं गया था।'

प्रभुने कहा—'अपनी इच्छासे आया था, अपनी इच्छासे ही नहीं पाता।'

जगदानन्दजीने हँसकर कहा—'पाइये पाइये, देखिये भात ठण्डा हुआ जाता है।'

प्रभुने कहा—'चाहे ठण्डा हो या गरम जबतक आप मेरे साथ बैठकर न पावेंगे, तबतक मैं कभी भी न पाऊँगा। अपने लिये एक पत्तल और परोसिये।'

जगदानन्दजीने मानमिश्रित हास्यके स्वरमें कहा—'पाइये भी, मेरी क्या बात है, मैं तो पीछे ही पाता हूँ, सो आपके पा लेनेपर पाऊँगा।'

प्रभुने कहा—'चाहे सदा पीछे ही क्यों न पाते हैं, आज तो मेरे साथ ही पाना पड़ेगा।'

जगदानन्दजीने कुछ गम्भीरताके स्वरमें कहा—'प्रभो! मैंने और रमाई, रघुनाथ आदि सभीने तो बनाया है। इन्हें प्रसाद देकर तब मैं पा सकता हूँ। अब आपकी आज्ञाको टाल थोड़े ही सकता हूँ। अवश्य पा लूँगा।'

यह सुनकर प्रभु प्रसाद पाने लगे। जो पदार्थ चुक जाता उसे ही जगदानन्दजी फिर उतना ही परोस देते। इस भयसे कि जगदानन्दजी नाराज हो जायँगे, प्रभु मना भी नहीं करते और उनकी प्रसन्नताके निमित्त खाते ही जाते। और दिनोंकी अपेक्षा कई गुना अधिक खा गये, तो भी जगदानन्द मानते नहीं हैं, तब प्रभुने दीनताके-से स्वरमें कहा—'बाबा! अब दया भी करोगे या नहीं। अन्य दिनोंकी अपेक्षा दस गुना तो खा गया, अब कबतक और खिलाते जाओगे?' इतना कहकर प्रभुने भोजन समाप्त किया। जगदानन्दजीने मुखशुद्धिके लिये लौंग, इलायची और हरीतकीके टुकड़े दिये। प्रभु उन्हें खाते हुए फिर वहीं बैठ गये और कहने लगे—'जबतक आप मेरे सामने प्रसाद न पा लेंगे तबतक मैं यहाँसे नहीं हटूँगा।'

जगदानन्दजीने हँसकर कहा—'अब आप इतनी चिन्ता क्यों

करते हैं, अब तो सबके साथ मुझे प्रसाद पाना ही है, आप चलकर आराम करें।' यह सुनकर प्रभु गोविन्दसे कहने लगे—'गोविन्द! तू यहीं रह और जबतक ये प्रसाद पा न लें तबतक मेरे पास मत आना'। यह कहकर प्रभु अकेले ही कमण्डलु उठाकर अपने निवासस्थानपर चले गये।

प्रभुके चले जानेपर जगदानन्दजीने गोविन्दसे कहा—'तुम जल्दी जाकर प्रभुके पैरोंको दबाओ। मैं तुम्हारे लिये प्रसाद रख छोड़ूँगा। सम्भव है प्रभु सो जायँ।' यह सुनकर गोविन्द चला गया और लेटे हुए प्रभुके पैर दबाने लगा। प्रभुने पूछा—'जगदानन्दने प्रसाद पाया?' गोविन्दने कहा—'प्रभो! वे पा लेंगे, उन्हें अभी थोड़ा कृत्य शेष है।' यह कहकर वह धीरे-धीरे प्रभुके तलुओंको दबाने लगे। प्रभु कुछ झपकी-सी लेने लगे। थोड़ी देर बाद जल्दीसे आँख मलते-मलते कहने लगे—'गोविन्द! जा देख तो सही, जगदानन्दने प्रसाद पाया या नहीं। यदि पा लिया हो या पा रहे हों तो मुझे आकर फौरन सूचना देना।' प्रभुकी आज्ञासे गोविन्द फिर गया। उसने जाकर देखा सब भक्तोंको प्रभुका उच्छिष्ट महाप्रसाद देकर उसी पत्तलपर जगदानन्दजी खाने बैठे हैं। गोविन्दको देखते ही वे कहने लगे—'गोविन्द! तुम्हारे लिये मैंने अलग परोसकर रख दिया है, आओ तुम भी बैठ जाओ।'

गोविन्दने कहा—'मैं पहले प्रभुको सूचना दे आऊँ, तब प्रसाद पाऊँगा। यह कहकर वह प्रभुको सूचना देने चला गया। 'जगदानन्दजी प्रसाद पा रहे हैं' यह सुनकर प्रभुको सन्तोष हुआ और उन्होंने गोविन्दको भी प्रसाद पानेके लिये भेज दिया। गोविन्दने आकर सभी भक्तोंके साथ बैठकर प्रसाद पाया और फिर सभी भक्त अपने-अपने स्थानोंको चले गये।

इस प्रकारकी प्रेम-कलह महाप्रभु और जगदानन्दजीके बीचमें प्रायः होती रहती थी। इसमें दोनों ही आनन्दका अनुभव करते थे।

जगदानन्दजीकी एकनिष्ठा

अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते।
न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः ॥*

(श्रीमद्भा० ११। २। ४७)

शास्त्रोंमें भक्तोंके उत्तम, मध्यम और प्राकृतरूपसे तीन भेद बताये हैं। जो भक्त अपने इष्टदेवको सर्वव्यापक समझकर प्राणिमात्रके प्रति श्रद्धाके भाव रखता है और सभी वस्तुओंमें इष्टबुद्धि रखकर उनका आदर करता है, वह सर्वोत्तम भक्त है। जो अपने इष्टमें प्रीति रखता है और अपने ही समान इष्टबन्धुओंके प्रति श्रद्धाके भाव, असाधकोंके प्रति कृपाके भाव, विद्वेषियों और भिन्नमतवालोंके प्रति उपेक्षाके भाव रखता है, वह मध्यम भक्त है और जो अपने इष्टके विग्रहमें ही श्रद्धाके

---

* जो पुरुष पूज्य श्रीविग्रहोंमें ही श्रद्धाके साथ श्रीहरिकी पूजा करता है और भगवद्भक्तोंकी तथा अन्य पुरुषोंकी पूजा नहीं करता, उनकी उपेक्षा करता है, उसे शास्त्रोंमें प्राकृत भक्त कहा गया है।

साथ उन श्रीहरिकी पूजा करता तथा भगवत्-भक्तोंकी तथा अन्य पुरुषोंसे एकदम उदासीन रहता है, वह प्राकृत भक्त है। प्राकृत भक्त बुरा नहीं है, सच पूछिये तो भक्तिका सच्चा श्रीगणेश तो यहींसे होता है, जो पहले प्राकृत भक्त नहीं बना वह उत्तम तथा मध्यम भक्त बन ही कैसे सकता है। नीचेकी सीढ़ियोंको छोड़कर सबसे ऊँचीपर बिना योगेश्वरेश्वरकी कृपासे कोई भी नहीं जा सकता।

पण्डित जगदानन्दजी सरल प्रकृतिके भक्त थे, वे प्रभुके शरीर-सुखके पीछे सब कुछ भूल जाते थे। प्रभुके अतिरिक्त उनके लिये कोई पूजनीय संन्यासी नहीं था, प्रभुके सभी काम लीला हैं, यही उनकी भावना थी। महाप्रभु भी इनके ऊपर परमकृपा रखते थे। इनके क्षण-क्षणमें रूठने और क्रुद्ध होनेके स्वभावसे वे पूर्ण-रीत्या परिचित थे, इसीलिये इनसे कुछ भय भी करते थे। साधु-संन्यासीके लिये जिस प्रकार स्त्रीस्पर्श पाप है, उसी प्रकार रूई भरे हुए गुदगुदे वस्त्रका उपयोग करना पाप है। इसीलिये महाप्रभु सदा केले-के पत्तोंपर सोया करते थे। वे दिन-रात्रि श्रीकृष्णविरहमें छटपटाते रहते थे। आहार भी उन्होंने बहुत ही कम कर दिया था। इसी कारण उनका शरीर अत्यन्त ही क्षीण हो गया था। उस क्षीण शरीरको केलेके पत्तोंपर पड़ा देखकर सभी भक्तोंको अपार दुःख होता था, किन्तु प्रभुके सम्मुख कुछ कहनेकी हिम्मत ही किसकी थी! सब मन मसोसकर इस दारुण दुःखको सहते और विधाताको धिक्कारते रहते कि ऐसा सुकुमार सुन्दर स्वरूप देकर फिर इस प्रकारका जीवन प्रभुको प्रदान किया, यह उस निर्दयी दैवका कैसा क्रूर कर्म है।

जगदानन्दजी प्रभुकी इस कठोरतासे सदा असन्तुष्ट रहते और अपने भोले स्वभावके कारण उनसे कभी-कभी इस प्रकारके हठोंको

त्यागनेका आग्रह भी किया करते, किन्तु प्रभु तो धीर थे, वे भला किसीके कहने-सुननेसे न्यायमार्गका कब परित्याग करने लगे। इसीलिये जगदानन्दजीके सभी प्रयत्न असफल ही होते, फिर भी वे अपने सीधे स्वभावके कारण सदा प्रभुको सुखी रखनेकी ही चेष्टा किया करते। उन्होंने जब देखा कि प्रभुके शरीरको केलोंके पत्तोंपर कष्ट होता है तो वे बाजारसे एक सुन्दर-सा वस्त्र खरीद लाये। उसे गेरुए रंगमें रँगकर उसके तोशक-तकिये बनाये। स्वयं सेमरकी रूई लाकर उन्होंने गद्दे-तकियेमें भरी और उन्हें गोविन्दको ले जाकर दे दिया। गोविन्दसे उन्होंने कह दिया—'इसे प्रभुके नीचे बिछा देना और ऊपरसे उनका वस्त्र डाल देना।' गोविन्दने जगदानन्दजीकी आज्ञासे डरते-डरते ऐसा ही किया। महाप्रभुने जब बिस्तरपर पैर रखा तभी उन्हें कुछ गुदगुदा-सा प्रतीत हुआ। वस्त्रको उठाकर देखा तो उसके नीचे गद्दा बिछा है और एक रंगीन तकिया लगा हुआ है। गद्दे-तकियेको देखकर प्रभुको क्रोध आ गया। उन्होंने उसी समय जोरसे गोविन्दको आवाज दी। गोविन्दका दिल धड़कने लगा। वह सब कुछ समझ गया कि प्रभुने गद्दे-तकियेको देख लिया और अब न जाने मुझे क्या-क्या कहेंगे। गोविन्द डरते-डरते धीरे-धीरे किवाड़की आड़में जाकर खड़ा हो गया। प्रभुने फिर आवाज दी—'गोविन्द! कहाँ चला गया? सुनता नहीं।'

धीरे-धीरे काँपती आवाजमें गोविन्दने कहा—'प्रभो! मैं उपस्थित हूँ, क्या आज्ञा है?'

प्रभुने अत्यन्त ही स्नेहसे सने हुए शब्दोंमें प्रेमयुक्त रोषके साथ कहा—'तुम सब मिलकर मुझे धर्मभ्रष्ट करनेपर तुले हुए हो। मैंने अपना शरीर तुमलोगोंके अधीन कर रखा है, किन्तु तुम चाहते हो कि मैं विषय-भोगोंमें आसक्त रहूँ। विषयोंके उपभोगके लिये ही तो मैंने घर-बार

छोड़कर संन्यास लिया है, घरपर मैं विषय नहीं भोग सकता था। क्यों ठीक है न?'

गोविन्दने कुछ भी उत्तर नहीं दिया, वह चुपचाप नीचा सिर किये हुए खड़ा रहा। स्वरूप गोस्वामी एक ओर चुपचाप बैठे हुए प्रभुको पद सुनानेकी प्रतीक्षा कर रहे थे। वे भी चुप ही बैठे रहे। प्रभु फिर कहने लगे—'पता नहीं, ये लोग भजन-ध्यान सब शरीरसुखके ही लिये करते हैं क्या? दिन-रात्रि मेरे शरीरकी ही चिन्ता! भाई! चैतन्य तो इस शरीरसे पृथक् है, वह तो नित्य सुखमय, आनन्दमय और प्रेममय है। उसे ये संसारी पदार्थ भला क्या सुख पहुँचा सकते हैं। जिसे चैतन्य समझकर तुम सुखी बनाना चाहते हो, वह तो अचैतन्य है, नश्वर है, क्षणभंगुर है, विनाशी और सदा बदलते रहनेवाला है, इसीको सुखी बनानेका प्रयत्न करना महामूर्खता है।'

स्वरूप गोस्वामी चुपचाप सुनते रहे। प्रभुने फिर उसी प्रकार रोषके स्वरमें कहा—'क्यों रे गोविन्द! तुझे यह सूझी क्या? मैंने क्या सोचा कि मैं गद्दा-तकिया लगाकर विषयी पुरुषोंकी भाँति सोऊँगा? तू ठीक-ठीक बता मुझे पैसे कहाँ मिले? यह वस्त्र किससे माँगा? सिलायीके दाम कहाँसे आये?'

गोविन्दने धीरेसे सिर नीचा किये ही उत्तर दिया—'प्रभो! जगदानन्द पण्डित मुझे इन्हें दे गये हैं और उन्हींकी आज्ञासे मैंने इसे बिछा दिया है।' जगदानन्दजीका नाम सुनकर प्रभु कुछ सहम गये। उन्हें इसके उपयोग न करनेका प्रत्यक्ष परिणाम आँखोंके सामने दीखने लगा। उनकी दृष्टिमें जगदानन्दकी रोषभरी दृष्टि साकार होकर नृत्य करने लगी। महाप्रभु फिर कुछ भी न कह सके। वे सोचने लगे कि अब क्या कहूँ, उनका रोष कपूरकी तरह एकदम न जाने कहाँ उड़ गया।

हृदयके भावोंके प्रवीण पारखी स्वरूप गोस्वामी महाप्रभुके मनोभावको ताड़ गये। इसीलिये धीरेसे कहने लगे—'प्रभो! हानि ही क्या है, जगदानन्दजीको कष्ट होगा, इन्होंने प्रेमपूर्वक बड़े परिश्रमसे इसे स्वयं बनाया है। सेमलकी रूई है, फिर आपका शरीर भी तो अत्यन्त ही निर्बल है, मुझे स्वयं इसे केलेके पत्तोंपर पड़ा हुआ देखकर कष्ट होता है। अस्वस्थावस्थामें गद्देका उपयोग करनेमें तो मुझे कोई हानि प्रतीत नहीं होती। रुग्णावस्थाको ही आपत्तिकाल कहते हैं और आपत्तिकालमें नियमोंका पालन न हो सके तो कोई हानि भी नहीं। कहा भी है, 'आपत्तिकाले मर्यादा नास्ति।'

प्रभुने धीरे-धीरे प्रेमके स्वरमें स्वरूप गोस्वामीको समझाते हुए कहा—'स्वरूप! तुम स्वयं समझदार हो। तुम स्वयं सब कुछ सीखे हुए हो, तुम्हें कोई सिखा ही क्या सकता है। तुम सोचो तो सही, यदि संन्यासी इसी प्रकार अपने मनको समझाकर विषयोंमें प्रवृत्त हो जाय तो अन्तमे वह धीरे-धीरे महाविषयी बनकर पतित हो जायगा। विषयोंका कहीं अन्त ही नहीं। एकके पश्चात् दूसरी इच्छा उत्पन्न होती जाती है। जहाँ एक बार नियमसे भ्रष्ट हुए वहाँ फिर नीचेकी ओर पतन ही होता जाता है। पानीका प्रवाह ऊपरसे एक बार छूटना चाहिये, बस फिर वह नीचेकी ही ओर चलेगा। जिसके खूब साफ-सुथरे वस्त्र होते हैं, वही धूलि, मिट्टी और गंदी जगहमें न बैठनेकी परवा करता है, जहाँ एक बार वस्त्र मैले हुए कि फिर कहीं भी बैठनेमे संकोच नहीं होता। फिर वह वस्त्रोंकी रही-सही पवित्रताकी भी परवा नहीं करता। इसलिये तुम मुझसे गद्देपर सोनेका आग्रह मत करो। आज गद्दा है तो कल पलङ्ग भी चाहिये। परसों एक पैर दबानेवाले नौकरको रखनेकी आवश्यकता प्रतीत होगी। क्या इसीलिये मैंने संन्यास लिया है कि ये ही सब सुख भोगता रहूँ।'

प्रभुके इस मार्मिक उपदेशको सुनकर स्वरूप गोस्वामी फिर कुछ भी नहीं बोले। उन्होंने गोविन्दसे गद्दे-तकियेको उठानेका संकेत किया। गोविन्दने संकेत पाते ही वे मुलायम वस्त्र उठाकर एक ओर रख दिये। प्रभु उन्हीं पड़े हुए पत्तोंपर लेट गये।

दूसरे दिन स्वरूप गोस्वामी बहुत-से केलेके खोपले उठा लाये और उन्हें अपने नखोंसे बहुत ही महीन चीर-चीरकर प्रभुके एक पुराने वस्त्रमें भर दिया। बहुत कहने-सुननेपर प्रभुने उस गद्देको बिछाना स्वीकार कर लिया।

जगदानन्दजीने गोविन्दके द्वारा जब सब समाचार सुना तब तो उन्हें अत्यन्त ही क्षोभ हुआ, किन्तु उन्होंने अपना क्षोभ प्रभुके सम्मुख प्रकट नहीं होने दिया, प्रभु भी सब कुछ समझ गये, इसलिये उन्होंने गद्दे तकियेवाली बात फिर छेड़ी ही नहीं। जगदानन्दजीकी बहुत दिनोंसे वृन्दावन जानेकी इच्छा थी। उन्होंने प्रभुपर अपनी इच्छा प्रकट भी की थी, किन्तु प्रभुने इन्हें वृन्दावन जानेकी आज्ञा नहीं दी। महाप्रभु जानते थे, ये सरल हैं, सीधे हैं, भोले हैं और संसारी बातोंसे एकदम अनभिज्ञ हैं। इन्हें देश, काल तथा पात्र देखकर बर्ताव करना नहीं आता। यों ही जो मनमें आता है कह देते हैं। सब लोग क्या जानें कि इनके हृदयमें द्वेष नहीं है। वे तो इनके क्रोधयुक्त वचनोंको सुनकर इन्हें बुरा-भला ही कहेंगे। ऐसे सरल मनुष्यको रास्तेमें अत्यन्त ही क्लेश होगा। यही सब समझ-सोचकर प्रभु इन्हें गौड़ तो भेज देते थे क्योंकि वहाँके सभी भक्त इनके स्वभावसे परिचित थे, किन्तु वृन्दावन जानेकी आज्ञा नहीं देते थे। अबके जगदानन्दजीने फिर निश्चय किया कि 'प्रभु आज्ञा दे दें तो अवश्य व्रजमण्डलकी यात्रा कर आवें।' यह सोचकर उन्होंने एक

इन एकान्तमें स्वरूप गोस्वामीसे सलाह करके प्रभुसे वृन्दावन जानेकी आज्ञा माँगी।

प्रभुने कहा—'वैसे तो मैं आपको जानेके लिये अनुमति दे भी देता, किन्तु अब तो कभी अनुमति न दूँगा। मुझसे क्रुद्ध होकर जायँगे तो मेरा मन सदा उदास बना रहेगा।'

जगदानन्दजीने प्रेमयुक्त मधुरवाणीसे कहा—'प्रभो! आपपर भला कोई क्रोध कर सकता है। फिर मैं तो आपका सेवक हूँ। मैं सच्चे हृदयसे कह रहा हूँ, क्रोध करके मैं नहीं जाता हूँ। मेरी तो बहुत दिनोंसे इच्छा थी। उसे आपके सम्मुख भी कई बार प्रकट कर चुका हूँ।'

इसपर बातका समर्थन करते हुए स्वरूपदामोदरजी कहने लगे—'हाँ प्रभो! इनकी बहुत दिनोंकी इच्छा है। भला, ये आपपर कभी क्रुद्ध हो सकते हैं। गौड़ भी तो ये प्रतिवर्ष जाया ही करते हैं, इसी प्रकार इन्हें व्रज जानेकी भी आज्ञा दे दीजिये।'

जगदानन्दजीने कहा—'हाँ प्रभो! वृन्दावनकी पावन धूलिको मस्तकपर चढ़ानेकी मेरी उत्कट इच्छा है, आपकी आज्ञाके बिना जा नहीं सकता।'

प्रभुने कहा—'अच्छी बात है, आपकी उत्कट इच्छा है तो जाइये, किन्तु इतना ध्यान रखना कभी किसीसे विशेष बातें न करना। यहाँसे काशीजीतक तो कोई भय नहीं। आगे डाकू मिलते हैं, वे बङ्गाली समझकर आपको मार ही डालेंगे। इसलिये यहाँसे किसी धर्मात्मा क्षत्रियके साथ जाना। वृन्दावनमें सदा सनातनके ही साथ रहना। उन्हींके साथ तीर्थ और वनोंकी यात्रा करना। साधु-महात्माओंको दूरसे ही प्रणाम करना। उनसे बहुत अधिक सम्पर्क न रखना और न उनके साथ अधिक दिन ठहरना ही। व्रजकी यात्रा करके शीघ्र ही लौट आना। सनातनसे कह

लीलाओंका ही वर्णन किया है। उनकी दृष्टिमें श्रीकृष्ण और चैतन्यमें कोई भेद-भाव होता तब तो वे सिद्ध करनेकी चेष्टा करते।

मुकुन्द सरस्वती नामके एक संन्यासी थे, उन्होंने सनातन गोस्वामीको एक अपने ओढ़नेका गेरुए रंगका वस्त्र दिया था। सनातनजी तो एक गुदड़ीके सिवा कुछ रखते ही नहीं थे, उसे महात्माकी प्रसादी समझकर उन्होंने रख छोड़ा। उस दिन जगदानन्द-जीके निमन्त्रणमें वे उसी वस्त्रको सिरसे बाँधकर गये। सनातनजीके सिरपर गेरुए रंगका वस्त्र देखकर जगदानन्दजीने समझा कि यह प्रभुका प्रसादी वस्त्र है, अतः बड़े ही स्नेहके साथ पूछने लगे—'सनातनजी! आपने यह प्रभुका प्रसादी वस्त्र कहाँ पाया?'

सनातनजीने सरलताके साथ कहा—'यह प्रभुका प्रसादी नहीं है। सरस्वती नामक एक बड़े अच्छे संन्यासी हैं, उन्होंने ही यह मुझे दिया है।' इतना सुनते ही जगदानन्दजीका क्रोध अत्यन्त

देना, मैं भी व्रज आऊँगा, मेरे लिये कोई स्थान ठीक कर लें।' इस प्रकार उन्हें भाँति-भाँतिसे समझा-बुझाकर वृन्दावनके लिये विदा किया।

जगदानन्दजी सभी गौरभक्तोंकी वन्दना करके और महाप्रभुकी चरणरज सिरपर चढ़ाकर झाड़ीखण्डके रास्तेसे वृन्दावनकी ओर चलने लगे। भिक्षा माँगते-खाते ये काशी, प्रयाग होते हुए वृन्दावन पहुँचे। वहाँ रूप-सनातन दोनों भाइयोंने इनका बड़ा सत्कार किया। ये सदा सनातन गोस्वामीके ही साथ रहते थे। उन्हींको साथ लेकर इन्होंने व्रजमण्डलके बारहों वनोंकी यात्रा की। सनातनजी घर-घरसे भिक्षा माँग लाते थे और इन्हें अन्न लाकर दे देते थे और ये अपना बना लेते थे। सनातनजी तो स्वयं व्रजवासियोंके घरोंमेंसे टुकड़े माँगकर ले आते थे और उन्हींपर निर्वाह करते थे। कभी जगदानन्दजीके समीप भी प्रसाद पा लेते थे।

सब वनोंके दर्शन करते हुए ये महावन होते हुए गोकुलमें आये। गोकुलमें ये दोनों यमुनाजीके तटपर एक गुफामें ठहरे। रहते तो दोनों गुफामें थे किन्तु भोजनके लिये जगदानन्द तो एक मन्दिरमें जाते थे और वहाँ अपना भोजन अपने हाथसे बनाकर पाते थे। सनातनजी महावनमेंसे जाकर मधुकरी कर लाते थे। तबतक गोकुल इतना बड़ा गाँव नहीं बना था। गोस्वामियोंकी ही दो-तीन बैठकें तथा मन्दिर थे। इसीलिये भिक्षाके लिये इन्हें डेढ़-दो मील रोज जाना पड़ता था।

एक दिन जगदानन्दजीने सनातनजीका निमन्त्रण किया। सनातनजी तो समान दृष्टि रखनेवाले उच्चकोटिके भक्त थे। वे संन्यासीमात्रको चैतन्यका ही विग्रह समझकर उनके प्रति उदार भाव रखते थे। वे अपने गुरुमें और श्रीकृष्णमें कोई भेदभाव नहीं मानते थे इसीलिये उन्होंने श्रीचैतन्यदेवको श्रीकृष्ण या अवतारी सिद्ध न करके श्रीकृष्ण-

लीलाओंका ही वर्णन किया है। उनकी दृष्टिमें श्रीकृष्ण और चैतन्यमें कोई भेद-भाव होता तब तो वे सिद्ध करनेकी चेष्टा करते।

मुकुन्द सरस्वती नामके एक संन्यासी थे, उन्होंने सनातन गोस्वामीको एक अपने ओढ़नेका गेरुए रंगका वस्त्र दिया था। सनातनजी तो एक गुदड़ीके सिवा कुछ रखते ही नहीं थे, उसे महात्माकी प्रसादी समझकर उन्होंने रख छोड़ा। उस दिन जगदानन्द-जीके निमन्त्रणमें वे उसी वस्त्रको सिरसे बाँधकर गये। सनातनजीके सिरपर गेरुए रंगका वस्त्र देखकर जगदानन्दजीने समझा कि यह प्रभुका प्रसादी वस्त्र है, अतः बड़े ही स्नेहके साथ पूछने लगे—'सनातनजी! आपने यह प्रभुका प्रसादी वस्त्र कहाँ पाया?'

सनातनजीने सरलताके साथ कहा—'यह प्रभुका प्रसादी नहीं है। मुकुन्द सरस्वती नामक एक बड़े अच्छे संन्यासी हैं, उन्होंने ही यह वस्त्र मुझे दिया है।' इतना सुनते ही जगदानन्दजीका क्रोध उमड़ पड़ा। वे भला इस बातको कब सहन कर सकते थे कि गौरभक्त होकर कोई दूसरे संन्यासीके वस्त्रको सिरपर चढ़ावे। उनका आदर केवल चैतन्यदेवके ही वस्त्रमें सीमित था। जो कोई उसका आदर छोड़कर औरका आदर करता है, उनकी दृष्टिमें वह बुरा काम करता है। इसीलिये क्रोधमें भरकर वे चूल्हेकी हाँड़ीको उठाकर सनातनजीको मारने दौड़े। सनातनजी उनके ऐसे व्यवहारको देखकर लज्जित-से हो गये। जगदानन्द-जीने भी हाँड़ीको चूल्हेपर रख दिया और अपनी बातके समर्थनमें कहने लगे—'आप महाप्रभुके प्रधान पार्षदोंमेंसे हैं। भला, इस बातको कौन गौरभक्त सहन कर सकेगा कि आप किसी दूसरे संन्यासीके वस्त्रको सिरपर चढ़ावें।'

इस बातको सुनकर हँसते हुए सनातनजी कहने लगे—'मैं दूरसे

ही आपकी एकनिष्ठाकी बातें सुना करता था, किन्तु आज प्रत्यक्ष आपकी निष्ठाका परिचय प्राप्त हुआ। श्रीचैतन्यचरणोंमें आपका इतना दृढ़ अनुराग है, उसका लेशमात्र भी मुझमें नहीं है। आपकी एकनिष्ठाको धन्य है। मैंने तो वैसे ही आपको दिखानेके लिये इसे पहन लिया था कि आप क्या कहेंगे! वैसे तो मैं गेरुए वस्त्रका अधिकारी भी नहीं हूँ। वैष्णवको गेरुए वस्त्रका आग्रह ही नहीं होता।' इस प्रकार उन्हें समझा-बुझाकर शान्त किया। जगदानन्दजीकी यह निष्ठा बुरी नहीं थी। किन्तु यही साध्य नहीं है। साध्य तो यही है कि वे गेरुए वस्त्रमात्रमें चैतन्यके वस्त्रका अनुभव करते, उसमें शङ्काका स्थान ही न रह जाता। यदि कहें कि पतिव्रता स्त्रीकी भाँति परपुरुषका मुख देखना जिस प्रकार पाप है उसी प्रकार मधुररसके उपासकोंको अपने इष्टदेवके प्रति ऐसी निष्ठा ही सर्वोत्तम कही जाती है, सो ठीक नहीं। कारण कि पतिव्रताकी दृष्टिमें तो पतिके सिवा संसारमें कोई है ही नहीं। उसके लिये तो पति ही सर्वस्व है। पतिको छोड़कर दूसरा कोई तीर्थ उसके लिये है ही नहीं। परकीयाभावमें ऐसी निष्ठा प्रायः देखी जाती है, किन्तु उसमें भी संकीर्णता नहीं। यह भी संसारके सम्पूर्ण सौन्दर्यमें अपने स्वामीके सौन्दर्यका ही मान करती है। जैसे श्रीकृष्णके अन्तर्धान हो जानेपर गोपियोंने लता-पत्ता और जीव-जन्तुओंमें श्रीकृष्णस्पर्शजन्य आनन्दका ही अनुभव किया था। अस्तु, हमारा मतलब इतना ही है कि हमारी दृष्टिमें यह प्राकृत निष्ठा है। उत्तम निष्ठा इससे दूर है, किन्तु इसके द्वारा उसकी प्राप्ति हो सकती है।

जगदानन्दजी कुछ काल व्रजमें रहकर महाप्रभुके समीप पुरीमें जानेकी तैयारियाँ करने लगे। प्रभुके लिये सनातनजीने रासलीला-स्थलीकी रज, गोवर्धनपर्वतकी शिला, गुंजाओंकी माला और पके हुए

सूखे पीलू—ये चीजें प्रसादके लिये दीं। इन अकिञ्चन, त्यागी, भिक्षुक भक्तोंकी ये ही चीजें सर्वस्व थीं। टैंटी और पीलू व्रजमें ही अधिक होते हैं। बङ्गालमें तो लोग इन्हें पहचानते ही नहीं। पीलू बहुत कड़वा होता है और टैंटी उससे भी अधिक कड़वी। टैंटीका अचार ठीक पड़ता है। पकी टैंटीको व्रजमें पैंचू बोलते हैं। देखनेमें वह लाल-लाल बड़ी ही सुन्दर मालूम पड़ती है, किन्तु खानेमें ठीक आती है। व्रजके गौ चरानेवाले ग्वाल पैंचू और पके पीलू खाया करते हैं। उनमें बीज-ही-बीज भरे रहते हैं। रस तो बहुत ही थोड़ा बीजोंमें लगा हुआ होता है। बीजोंमेंके रसको चूसकर 'शरीफे' के बीजोंकी भाँति उन्हें थूक देते हैं। ये ही व्रजके मेवा हैं। श्रीकृष्ण भगवान्‌को ये ही बहुत प्रिय थे। क्यों प्रिय थे, इसका क्या पता! इसीसे तो खीजकर किसी भक्तने कहा है—

काबुलमें मेवा करी, व्रजमें टैंटी खायँ।
कहूँ कहूँ गोपालकी, भूलि सिटली जायँ॥

अस्तु, जगदानन्दजी सनातनजीके दिये हुए प्रसादको लेकर, उनसे विदा होकर पुरी आये। प्रभु इन्हें सकुशल लौटा हुआ देखकर परम प्रसन्न हुए। इन्होंने सनातनजीकी दी हुई सभी चीजें प्रभुके अर्पण कीं। प्रभुने सभीको श्रद्धापूर्वक सिरपर चढ़ाया। सब चीजें तो प्रभुने रख लीं, पीलुओंको उन्होंने भक्तोंमें बाँट दिया। भक्तोंने 'वृन्दावनके फल' समझकर उन्हें बड़े आदरसे ग्रहण किया। एक तो वृन्दावनके फल फिर महाप्रभुके हाथसे दिये हुए सभी भक्त बड़े चावसे खाने लगे। जो पहले वृन्दावन हो आये थे वे तो जानते थे कि ये अमृतफल किस प्रकार खाये जाते हैं, इसलिये वे तो मुँहमें डालकर उनकी गुठलियोंको धीरे-धीरे चूसने लगे। जो नहीं जानते थे वे जल्दीसे मुँहमे डालकर चबाने लगे। चबाते ही मुँह जहर कड़वा हो गया, नेत्रोंमे पानी

आ गया। सभी सी-सी करते हुए इधर-उधर दौड़ने लगे। न तो खाते ही बनता था, न थूकते ही। वृन्दावनके प्रभुदत्त प्रसादको भला थूकें कैसे और खाते हैं तो प्राणोंपर बीतती है। खैर, जैसे-तैसे जलके साथ भक्त उन्हें निगल गये। प्रभु हँसते-हँसते कह रहे थे—'व्रजका प्रसाद पाना कोई सरल काम नहीं है। जो विषयभोगोंको ही सर्वस्व समझे बैठे हैं, उनका न तो व्रजकी भूमिमें वास करनेका ही अधिकार है और न व्रजके महाप्रसादको पानेका ही। व्रजवासी बननेका सौभाग्य तो उसे ही प्राप्त हो सकेगा जिसकी सभी वासनाएँ दूर हो गयी होंगी।' इस प्रकार जगदानन्दजीके आनेसे सभी भक्तोंको बड़ी प्रसन्नता हुई, वे उसी प्रकार सुखपूर्वक फिर प्रभुके पास रहने लगे। जगदानन्दजीका हृदय शुद्ध था, उनका प्रभुके प्रति प्रगाढ़ प्रेम था। वे प्रभुके शरीरसे ही अत्यधिक प्रेम करते थे। यह ठीक भी है। जिस कागजपर चित्र बना हुआ है उस कागजको यदि कोई प्यार करता है तो वह एक-न-एक दिन उसपर खिंचे हुए चित्रके सौन्दर्यसे भी प्यार करने लगेगा। जो सौन्दर्यको ही सर्वस्व समझकर कागजको व्यर्थ समझकर फेंक देता है तो कागज तो उसके हाथसे चला ही जाता है, साथ ही उसपर खिंचा हुआ चित्र और उसमेंका सौन्दर्य भी उसे फिर कभी नहीं मिल सकता। यह हो नहीं सकता कि हम घृतसे तो प्रेम करें और जिस पात्रमें घृत रखा है उसकी उपेक्षा कर दें। पात्रके साथ घृतका आधाराधेयभावका सम्बन्ध है। आधेयसे प्रेम करनेपर आधारसे अपने-आप ही प्रेम हो जाता है। आधारका प्रेम ही आधेयके प्रेमको प्राप्त करा सकता है। यही सर्वशास्त्रोंका सिद्धान्त है।

श्रीरघुनाथ भट्टको प्रभुकी आज्ञा

दाराः परिभवकारा बन्धुजनो बन्धनं विषं विषयाः।
कोऽयं जनस्य मोहो ये रिपवस्तेषु सुहृदाशा॥*

(सु० र० भां० १८८। १२६)

परमहंस रामकृष्णदेव एक कथा कहा करते थे—'एक बगीचेमें बहुत-से साधु पड़े हुए थे। वहाँ एक परम सुन्दरी स्त्री दर्शनोंके लिये गयी।

---

* दारा संसारको उत्पन्न करनेवाली है। संसारी बन्धुजन संसार-बन्धनको बढ़ानेवाले हैं। इन्द्रियोंके रूप, रस, स्पर्शादि विषय विषके समान परमार्थसे मृत्यु प्राप्त करानेवाले हैं। मोहरूपी मदिराको पान करके जो पुरुष उन्मत्त न हो गया हो, उसे छोड़कर कौन ऐसा पुरुष होगा जो इन परमार्थके शत्रुओंसे सुहृद्-पनेकी आशा रखेगा?

सभी साधु परम विरक्त थे, उन सबके गुरु आजन्म ब्रह्मचारी थे, इसलिये उन्होंने शिष्य भी ऐसे ही किये थे जिन्होंने जन्मसे ही संसारी सुख न भोगा हो। वे सभी स्त्रीसुखसे अनभिज्ञ थे। इसलिये उनके मनमें उस माताके दर्शनसे किसी प्रकारका विकार नहीं हुआ। उनमेंसे एकने पहले स्त्रीसुख भोगा था इसलिये उस माताके दर्शनसे उसकी छिपी हुई कामवासना जाग्रत हो उठी। वह विषयसुखकी इच्छा करने लगा।' इस कथाको कहकर वे कहते—'देखो, जिस बर्तनमें एक बार दही जम चुका है, उसमें दूधके फटनेका सन्देह ही बना रहता है, जो घड़ा कोरा है उसमें कोई भय नहीं। इसी प्रकार जो विषयसुखसे बचे हुए हैं वे कोरे घड़ेके समान हैं।' इसके उदाहरणमें वे अपने युवक भक्तोंमेंसे नरेन्द्र (विवेकानन्द) आदिका दृष्टान्त देकर कहते—'सर्वोत्तम तो यही है कि संसारी विषयोंसे एकदम दूर रहा जाय। विषय ही बन्धनके हेतु हैं।' महाप्रभु चैतन्यदेव भी जिसे वासनाहीन अधिकारी समझते उसे संसारमें प्रवेश करनेको मना कर देते और आजन्म ब्रह्मचारी रहकर श्रीकृष्णकीर्तन करनेका ही उपदेश देते। विरक्त भक्तोंको तो वे स्त्रियोंसे तनिक भी संसर्ग न रखनेकी शिक्षा देते रहते। स्वयं कभी भी न तो स्त्रियोंकी ओर आँख उठाकर देखते और न उनके अङ्गका ही कभी स्पर्श करते।

एक दिनकी बात है कि आप टोटा यमेश्वरको जा रहे थे। उसी समय रास्तेमें एक देवदासी कन्या अपने कोकिलकूजित कमनीय कण्ठसे महाकवि जयदेवके अमर काव्य गीतगोविन्दके पदको गाती जा रही थी! वसन्तका सुहावना समय था, नारीकण्ठकी मधुरिमासे मिश्रित उस त्रैलोक्यपावन पदको सुनते ही प्रभुका मनमयूर नृत्य करने लगा। उनके कानोंमें—

चन्दनचर्चितनीलकलेवरपीतवसनवनमाली ।
केलिचलन्मणिकुण्डलमण्डितगण्डयुगस्मितशाली ॥*

—यह पदावली एक प्रकारकी मादकताका सञ्चार करने लगी। अपने प्रियतमके ऐसे सुन्दर स्वरूपका वर्णन सुनते ही वे प्रेममें विह्वल हो गये और कानोंमें सुधाका सञ्चार करनेवाले उस व्यक्तिको आलिङ्गन करनेके लिये दौड़े। प्रेमके उद्रेकमें वे स्त्री-पुरुषका भाव एकदम भूल गये। रास्तेमें काँटोंकी बाढ़ लगी हुई थी, उसका भी ध्यान नहीं रहा। पैरमें काँटे चुभते जाते थे, किन्तु आप उनकी कुछ भी परवा न करके उस पदकी ही ओर लक्ष्य करके दौड़े जा रहे थे। पीछे आनेवाले गोविन्दने जोरोंसे दौड़कर और प्रभुको रोककर कहा—'प्रभो! यह आप क्या कर रहे हैं, देखते नहीं हैं यह तो स्त्री है।'

'स्त्री है', इतना सुनते ही प्रभु सहम गये और वहीं गिरकर बड़े ही करुणस्वरमें अधीरताके साथ कहने लगे—'गोविन्द! मैं तेरे इस उपकारके लिये सदा ऋणी रहूँगा, तूने आज मुझे स्त्री-स्पर्शरूपी पापसे बचाया। यदि सचमुच मैं भूलसे भी स्त्रीस्पर्श कर लेता तो समुद्रमें कूदकर आज ही अपने प्राणोंको गँवा देता।'

---

* एक सखी दूसरी सखीसे कह रही है—'सखि! देख तो सही इन श्रीहरिकी कैसी अपूर्व शोभा है! नील रङ्गके सुकोमल कलेवरपर सुगन्धित चन्दन लगा हुआ है, शरीरमें पीले वस्त्र पहने हैं। गलेमें मनोहर वनमाला पड़ी हुई है। रासक्रीड़ाके समय काञ्चनमय मकरकुण्डल हिल-हिलकर कमनीय कपोलोंको अधिक शोभायुक्त बना रहे हैं और वे मन्द-मन्द मुसकाते हैं।'

प्रभुकी ऐसी दीनतायुक्त बातें सुनकर गोविन्दने लज्जितभावसे कहा—'प्रभो ! आपकी रक्षा करनेवाला मैं कौन हूँ, जगन्नाथजीने ही आपकी रक्षा की है। मैं भला किस योग्य हूँ !'

महाप्रभु फिर आगे नहीं गये और लौटकर उन्होंने यह बात अपने सभी विरक्त भक्तोंके सम्मुख कही और गोविन्दकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे। तभी आपने गोविन्दसे कहा—'गोविन्द ! तुम सदा मेरे साथ ही रहा करो। मुझे अब शरीरका होश नहीं रहता। पता नहीं, किस समय मैं क्या अनर्थ कर बैठूँ।'

काशीवासी पण्डित तपन मिश्रको तो पाठक भूले ही न होंगे। उनके पुत्र रघुनाथ भट्टाचार्य प्रभुके अनन्य सेवक थे। प्रभु जब काशी पधारे थे तभी इन्होंने प्रभुको आत्मसमर्पण कर दिया था। प्रभुके पुरी आ जानेपर इनकी पुनः प्रभुके पादपद्मोंके दर्शनोंकी इच्छा हुई। अतः ये काशीजीसे गौड़ होते हुए नीलाचलकी ओर चल दिये। रास्तेमें इन्हें रामदास विश्वास नामक एक कायस्थ महाशय मिले। ये गौड़ेश्वरके दरबारमें मुनीम थे। रामानन्दी सम्प्रदायके थे, वैसे बड़े भारी पण्डित, विनयी और ब्रह्मण्य थे। वे भी जगन्नाथजीके दर्शनोंको जा रहे थे। रघुनाथजीको देखकर उन्होंने प्रणाम किया और इतने योग्य साथीको पाकर वे परम प्रसन्न हुए। उन्होंने रघुनाथजीकी पुटली जबरदस्ती ले ली तथा और भी उनकी विविध प्रकारसे सेवा करने लगे। रघुनाथजी इससे कुछ सङ्कुचित होते और कहते—'आप इतने बड़े पण्डित हैं, इतने भारी प्रतिष्ठित पुरुष हैं, आपको मेरी इस प्रकारकी सेवा करना शोभा नहीं देता।' वे विनीतभावसे उत्तर देते—'मैं नीच, अधम, छोटी जातिमें उत्पन्न होनेवाला भला आपकी सेवा कर ही क्या सकता हूँ ? फिर भी जो मुझसे हो सकती है, उससे आप मुझे वञ्चित न रखिये। साधु-ब्राह्मणोंकी सेवा करना तो हमारा कर्तव्य है।

हम तो इनके दास हैं।' इस प्रकार दोनों ही बड़े आनन्दके साथ प्रेम-पूर्वक पुरी पहुँचे। पुरीमें प्रभुके स्थानका पता लगाकर रघुनाथजी वहाँ पहुँचे और उन्होंने प्रभुके पादपद्मोंमें श्रद्धा-भक्तिके सहित साष्टाङ्ग प्रणाम किया। प्रभु इन्हें देखकर अत्यन्त ही प्रसन्न हुए और इनका आलिङ्गन करके तपन मिश्र तथा चन्द्रशेखर आदि भक्तोंकी कुशल-क्षेम पूछने लगे। रघुनाथजीने सभीकी कुशल सुनायी और उनके प्रणाम भी निवेदन किये। प्रभुने उस दिन रघुनाथजीको अपने पास ही प्रसाद पवाया और उनके रहनेके लिये अपने ही स्थानमें एक सुन्दर-सा स्थान दिया। आठ महीनोंतक रघुनाथ भट्ट प्रभुके चरणोंके समीप रहे। भोजन बनानेमें तो वे बड़े ही प्रवीण थे। प्रभुको वे प्रायः अपने यहाँ भिक्षा कराया करते थे और उनके उच्छिष्ट प्रसादको पाकर अपनेको कृतकृत्य समझते। महाप्रभु इनके बनाये हुए व्यञ्जनोंको बड़े ही आनन्दके साथ इनकी प्रशंसा करते हुए पाते थे। आठ महीनेके अनन्तर प्रभुने इन्हें आज्ञा दी—'देखो, तुम्हारे माता-पिता वृद्ध हैं, तुम्हीं उनकी एकमात्र सन्तान हो। उनकी स्वाभाविक इच्छा तुम्हें गृहस्थी बनानेकी होगी ही, किन्तु तुम गृहस्थीके झंझटमें कभी मत पड़ना। इसी प्रकार ब्रह्मचारी रहना और विवाह न करना। वृद्ध माता-पिताकी सेवा करना तो तुम्हारा कर्तव्य ही है, क्योंकि उनके दूसरा कोई पुत्र नहीं है। जब वे परलोकवासी हो जायँ तो तुम विरक्तभावसे वृन्दावनमें ही अपना समय बिताना। एक बार पुरी आकर मुझसे भी मिल जाना।' इतना कहकर उन्होंने इन्हें विदा किया। ये भी प्रभुसे विदा होकर प्रभुके वियोगमें रोते-रोते काशीजीको चले गये।

चार-पाँच वर्षमें इनके माता-पिता दोनों ही परलोकवासी हो गये। शास्त्रीय विधिके अनुसार इन्होंने उनका श्राद्ध करके ये पुरी पधारे और प्रभुसे सभी बातें कहकर निवेदन कीं। प्रभुने इन्हें आज्ञा

फिर अपने पास रखकर भक्तिरसकी शिक्षा दी और अन्तमें इन्हें वृन्दावनमें रूप-सनातनके समीप रहनेकी आज्ञा दी। प्रभुकी आज्ञाको शिरोधार्य करके ये वृन्दावनकी ओर चलनेके लिये तैयार हुए।

पुरीके सभी भक्तोंकी पदधूलि इन्होंने अपने मस्तकपर चढायी। तब ये हाथ जोड़े हुए प्रभुके समीप खड़े हो गये। प्रभुने इन्हें बार-बार आलिङ्गन किया और जगन्नाथजीकी प्रसादी चौदह हाथ लंबी तुलसीकी माला और बिना कत्था-चूना लगा हुआ प्रसादी पान इन्हें दिया। महाप्रभुकी दी हुई उन दोनों प्रसादी वस्तुओंको इन्होंने श्रद्धापूर्वक मस्तकपर चढ़ाया और डबडबायी आँखोंसे पृथिवीकी ओर देखते हुए चुपचाप खड़े रहे। प्रभु इन्हें उपदेश करने लगे—'देखो, श्रीवृन्दावनकी पवित्र भूमिको त्यागकर कहीं अन्यत्र न जाना। वैराग्ययुक्त होकर निरन्तर श्रीमद्भागवतका पाठ किया करना। रूप-सनातन इन दोनोंको अपना बड़ा समझना। जो कोई शङ्का हुआ करे इन्हींसे पूछ लिया करना। निरन्तर नाम-जप करते रहोगे तो कृपालु श्रीकृष्ण कभी-न-कभी तो कृपा करेंगे ही। मङ्गलमय भगवान् तुम्हारा मङ्गल करें, तुम्हें शीघ्र ही कृष्ण-प्रेमकी प्राप्ति हो। अब जाओ, सभी वृन्दावनवासी भक्तोंको मेरा स्मरण दिलाना।' इस प्रकार महाप्रभुके शुभाशीर्वादको पाकर ये काशी, प्रयाग होते हुए श्रीवृन्दावनधाममें पहुँचे। वहाँ रूप और सनातन इन दोनों भाइयोंने इनका बड़ा भारी सत्कार किया और अपने पास ही रखा। ये रूप गोस्वामीकी सत्संगसभामें श्रीमद्भागवतका पाठ किया करते थे। इनका गला बड़ा ही सुरीला था। भागवतके श्लोकोंको इतनी तानके साथ ये कहते कि सुननेवाले रोने लगते। एक ही श्लोकको कई प्रकारसे कहते। कहते-कहते स्वयं भी हिचकियाँ भर-भरकर रोने लगते। इनका प्रेम अद्भुत था। ये सदा वृन्दावनविहारीके प्रेममें छके-से

रहते थे। हृदयमें श्रीगोविन्दजीका ध्यान था, जिह्वा सदा हरिरसका पान करती रहती थी। साधुओंका सत्संग और ब्रह्मचर्यपूर्वक जीवन बिताना इससे बढ़कर संसारमें सुखकर जीवन और हो ही क्या सकता है? मनीषियोंने संसारकी सभी वस्तुओंको भयप्रद बताकर केवल एक वैराग्यको ही भयरहित माना है। ऐसा जीवन बिताना ही सर्वश्रेष्ठ वैराग्य है जैसा कि राजर्षि योगिराज भर्तृहरिने कहा है—

भक्तिर्भवे मरणजन्मभयं हृदिस्थं
स्नेहो न बन्धुषु न मन्मथजा विकाराः।
संसर्गदोषरहिता विजना वनान्ता
वैराग्यमस्ति किमतः परमर्थनीयम्॥

अर्थात् 'भक्तभयहारी भगवान्‌के पादपद्मोंमें प्रीति हो। इस शरीरको नाशवान् समझकर इसके प्रति अप्रीति हो; संसारी भाई, बन्धु तथा कुटुम्बियोंमें ममता न हो और हृदयमें कामजन्य वासनाका अभाव हो, कामिनीके कमनीय कलेवरको देखकर उसमें आसक्ति न होती हो। तथा संसारी लोगोंके संसर्गजन्य दोषसे रहित पवित्र और शान्त—विजन वनमें निवास हो तो इससे बढ़कर वाञ्छनीय वैराग्य और हो ही क्या सकता है?'

सचमुच जो स्त्रीसंसर्गसे रहित होकर एकान्तस्थानमें ब्रह्मचर्य-पूर्वक वृन्दावनविहारीका ध्यान करता हुआ अपने समयको बिता रहा है, वह देवताओंका भी वन्दनीय है, उसकी पदधूलि इस समस्त पृथिवीको पावन बना देती है, वह नररूपमें साक्षात् नारायण है, शरीरधारी ब्रह्म है और वैकुण्ठपतिका परम प्रिय प्रधान पार्षद है।

गम्भीरा मन्दिरमें श्रीगौराङ्ग

प्रेमानामाद्भुतार्थः श्रवणपथगतः कस्य नाम्नां महिम्नः
को वेत्ता कस्य वृन्दावनविपिनमहामाधुरीषु प्रवेशः।
को वा जानाति राधां परमरसचमत्कारमाधुर्यसीमा-
मेकश्चैतन्यचन्द्रः परमकरुणया सर्वमाविश्चकार ॥*

(श्रीप्रकाशानन्द)

महाप्रभु गौराङ्गदेव चौबीस वर्षकी अल्पावस्थामें कठोर संन्यास-धर्मकी दीक्षा लेकर पुरी पधारे। पहले छः वर्षोंमें तो वे भारतवर्षके विविध तीर्थोंमें भ्रमण करते रहे और सबसे अन्तमें आपने श्रीवृन्दावनधामकी यात्रा की। महाप्रभुकी यही अन्तिम यात्रा थी। वृन्दावनसे लौटकर अन्तके अठारहों वर्षोंतक आप अविच्छिन्नभावसे सचल जगन्नाथके रूपमें पुरी अथवा नीलाचलमें ही अवस्थित रहे। फिर आपने पुरीकी पावन पृथिवीका परित्याग करके कहींको भी पैर नहीं बढ़ाया। गौड़देशसे रथयात्राके समय प्रतिवर्ष बहुत-से भक्त आया करते थे और वे बरसातके चार महीनोंतक प्रभुके पादपद्मोंके सन्निकट रहकर अपने-अपने स्थानोंको चले जाया करते थे। छः वर्षोंतक तो प्रभु उनके साथ उसी प्रकार क्रीड़ा, उत्सव और संकीर्तन करते रहे। अन्तमें आपका प्रेमोन्माद साधारण सीमाको उल्लङ्घन करके

---

* प्रेम नामक अद्भुत पदार्थ किसके कर्णगोचर हो सकता था? नामकी महिमाको कौन जान सकता था? वृन्दावनकी माधुरीमें किसका प्रवेश हो सकता था? उत्तम रस-शृंगारके चमत्कारपूर्ण माधुर्यकी सीमा—राधाको कौन जान पाता? एक श्रीचैतन्यचन्द्र महाप्रभुने अपनी स्वाभाविक परम करुणाके द्वारा इन सभी बातोंको पृथिवीपर प्रकट कर दिया।

पराकाष्ठातक पहुँच गया, उसमें फिर भला इस प्राकृतिक शरीरका होश कहाँ, ये तो प्रकृतिके परेकी बात हैं। सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणोंका वहाँ प्रवेश नहीं, यह सब तो त्रिगुणातीत विषय है। उसमें मिलना-जुलना, बातचीत करना, खाना-पीना तथा अन्यान्य कार्योंका सम्पादन करना हो ही नहीं सकता। शरीर स्वयं ही यन्त्रके समान इन कार्योंको आवश्यकतानुसार करता रहता है। चित्तसे इन कामोंका कोई सम्बन्ध नहीं, चित्त तो अविच्छिन्नभावसे उसी प्रियतमकी रूपमाधुरीका पान करता रहता है। महाप्रभुका चित्त भी बारह वर्षोंतक शरीरको छोड़कर वृन्दावनके किसी काले रंगके ग्वाल-बालकके साथ चला गया था। उनका बेमनका शरीर पुरीमें काशी मिश्रके विशाल घरके एक निर्जन गम्भीरा मन्दिरमें पड़ा रहता था। इससे पूर्व कि हम महाप्रभुकी उस दिव्योन्मादकारी प्रेमावस्थाके सम्बन्धमें कुछ कहें, यह जान लेना आवश्यक है कि यह गम्भीरा मन्दिर वास्तवमें क्या है?

श्रीजगन्नाथजीके मन्दिरके समीप ही उड़ीसाधिप महाराज प्रतापरुद्रजीके कुलगुरु पण्डित काशी मिश्रजीके विशाल घरमें प्रभु निवास करते थे। मिश्रजीका वह भवन बहुत ही बड़ा था। अनुमानसे जाना जाता है कि उसमें तीन परकोटे रहे होंगे और सैकड़ों मनुष्य उसमें सुखपूर्वक रह सकते होंगे। तभी तो गौड़देशसे आये हुए प्रायः सभी भक्त चार महीनोंतक वहीं निवास करते थे। महाप्रभु उसी भवनमें रहते थे। अन्यान्य दूसरे मकानोंमें परमानन्द पुरी, ब्रह्मानन्द भारती, स्वरूपदामोदर, रघुनाथदास, जगदानन्द, वक्रेश्वर पण्डित तथा अन्यान्य विरक्त भक्त रहते थे। महाप्रभु सदासे ही एकान्तप्रिय थे, उन्हें भीड़-भम्भड़में विशेष रहना अरुचिकर था। उसी भवनमें एकान्तमें एक गुफाकी तरह छोटा-सा स्थान था, वह कोलाहल-शून्य, एकदम निभृत और नीरव मन्दिर था। महाप्रभु जब सबसे पृथक् होकर एकान्तकी इच्छा करते तब उस निभृत मन्दिरमें जाकर

विश्राम करते उसका दरवाजा इतना छोटा था कि एक आदमी ही उसमें संकोचके साथ घुस सकता था। महाप्रभु जब थक जाते या भीड़-भाड़से ऊब जाते तो उसमें जाकर सो जाते।

महाप्रभु जैसे भक्तवत्सल और कृपालु स्वामी थे उसी प्रकारका सच्चा स्वामिभक्त उन्हें गोविन्द नामक सेवक भी प्राप्त हुआ था। गोविन्दका महाप्रभुके प्रति वात्सल्यभाव था, वह निःस्वार्थ-भावसे बड़ी ही तत्परताके साथ प्रभुके शरीरकी खूब ही रेख-देख रखता। एक दिन महाप्रभु संकीर्तनसे श्रान्त होकर गम्भीराके दरवाजे-पर पड़कर सो रहे। नियमानुसार गोविन्द आया और उसने कहा—'प्रभो! मैं शरीरकी मालिश करूँगा, मुझे भीतर आने दीजिये।' प्रभु तो भावावेशमें बेहोश पड़े थे। उन्हें शरीर-मर्दनका क्या ध्यान! दो-चार बार प्रार्थना करनेपर आपने पड़े-ही-पड़े कह दिया—'आज नहीं, जाओ सो रहो।'

गोविन्दने विनीतभावसे कहा—'प्रभो! मेरा नित्यका नियम है, मुझे आज सेवासे वञ्चित न कीजिये।'

प्रभुने झुँझलाकर कहा—'नहीं, यह सब कुछ नहीं, शरीरमें बड़ी पीड़ा हो रही है, मुझसे उठा नहीं जाता, जाकर सो रहो।'

गोविन्दने फिर अत्यन्त ही विनीतभावसे कहा—'प्रभो! थोड़े हट जायँ, बस मैं एक पैर देकर ही भीतर आ जाऊँगा, मुझे नींद न आवेगी।'

प्रभुने अत्यन्त ही स्नेहसे कहा—'भैया गोविन्द! मुझमें हिलनेकी भी सामर्थ्य नहीं।' सेवापरायण स्वामिभक्त सेवक क्या करता! सेवा करना उसका प्रधान कर्तव्य है। प्रभुको लाँघकर जाना पाप है, किन्तु उनकी सेवा न करना यह उससे भी अधिक पाप है। इसलिये यह सोचकर कि 'चाहे मुझे नरक ही क्यों न भोगना पड़े, मैं सेवामें

प्रमाद नहीं करूँगा।' यह सोचकर वह प्रभुको लाँघकर ही चला गया और वहाँ जाकर उसने प्रभुकी चरणसेवा की तथा सम्पूर्ण शरीरको धीरे-धीरे दबाया। बहुत देर हो जानेपर प्रभुको चैतन्यता प्राप्त हुई। तब आपने गोविन्दको पास ही बैठा देखकर पूछा—'अरे गोविन्द! तू अभीतक बैठा ही है, सोने क्यों नहीं गया?'

उसने कहा—'प्रभो! सोने कैसे जाता, आप तो दरवाजेको घेरकर शयन कर रहे हैं।'

प्रभुने पूछा—'तब तू आया कैसे था?'

गोविन्दने कुछ लज्जितस्वरमें कहा—'प्रभो! मैं आपके श्रीअङ्गको लाँघ करके ही आया था, इसके लिये मुझे जितने दिनोंतक भी नरक भोगना पड़े उतने दिनोंतक सहर्ष नरक भोग सकता हूँ। आपके शरीरकी सेवाके निमित्त मैं सब कुछ कर सकता हूँ, किन्तु अपने सोनेके लिये मैं ऐसा पाप नहीं कर सकता।' उसकी ऐसी निष्ठा देखकर प्रभुने उसे छातीसे लगाया और उसे श्रीकृष्ण-प्रेम-प्राप्तिका आशीर्वाद दिया।

इस घटनासे भी जाना जाता है कि गम्भीरा मन्दिर बहुत ही छोटा होगा। पहले तो महाप्रभु यदा-कदा ही उसमें शयन करते रहे, ज्यों-ज्यों उनकी एकान्तनिष्ठा बढ़ती गयी और प्रेमोन्माद बढ़ता गया, त्यों-ही-त्यों वे गम्भीरा मन्दिरमें अपना अधिक समय बिताने लगे। अन्तके बारह वर्ष तो आपके गम्भीरा मन्दिरमें ही बीते। उस स्थानका नाम पहलेसे ही गम्भीरा था या प्रभुके गम्भीरभावसे रहनेके कारण उसको लोग गम्भीरा कहने लगे, इसका ठीक-ठीक पता नहीं। अनुमान ऐसा ही लगाया जाता है, कि प्रभुके अन्तःपुरके समान उसमें अपने अन्तरङ्गभक्तोंके साथ रागमय ऐकान्तिक जीवन बितानेके ही कारण उस स्थानको भक्त 'गम्भीरा' के नामसे पुकारने लगे होंगे। प्रभुने गम्भीरा मन्दिरमें रहकर जो बारह वर्ष बिताये और उस अवस्थामें जो

उन्होंने लीलाएँ कीं। उन्हें भक्त 'गम्भीरा लीला' के नामसे जानते और कहते हैं। गौड़ीय वैष्णवग्रन्थोंमें सर्वत्र 'गम्भीरा लीला' शब्दका व्यवहार मिलता है।

इन बारह वर्षोंमें प्रभुके शरीरमें जो-जो प्रेमके भाव उत्पन्न हुए, उनकी जैसी-जैसी अलौकिक दशाएँ हुईं वह किसी भी महापुरुषके शरीरमें प्रत्यक्ष रीतिसे प्रकट नहीं हुईं। उन्होंने प्रेमकी पराकाष्ठा करके दिखा दी, मधुर रसका आस्वादन किस प्रकार किया जाता है, इसका उन्होंने साकार स्वरूप दिखला दिया। उन दिनों स्वरूपदामोदर और राय रामानन्द, ये ही प्रभुके उस भावके प्रधान ज्ञाता थे। महाप्रभु निरन्तर वियोगिनी श्रीराधिकाजीके भावमें भावान्वित रहते। स्वरूप गोस्वामी और राय रामानन्दजीको वे अपनी ललिता और विशाखा सखी समझते। बस, इन्हींके कारण उन्हें थोड़ी-बहुत शान्ति होती। वास्तवमें मधुर-भावके मर्मज्ञ ये दोनों महानुभाव ललिता और विशाखाकी भाँति प्रभुकी विरहवेदनाको कम करनेमें सब भाँतिसे उनकी सहायता करते और सदा प्रभुकी सेवा-शुश्रूषामें ही तत्पर रहते। स्वरूप गोस्वामीका गला बड़ा ही कोमल था। वे अपनी सुरीली तानसे मधुरभावके पद गा-गाकर प्रभुको सुनाया करते थे। महाप्रभुको श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धका गोपीगीत श्रीजयदेवका गीतगोविन्द और चण्डीदास तथा विद्यापति ठाकुरके पद बहुत ही प्रिय थे। स्वरूप गोस्वामी अपने सुन्दर सुरीले स्वरसे इन्हीं सबको सुनाया करते थे। राय रामानन्दजी कृष्णकथा कहा करते थे, इसी प्रकार रसास्वादन करते-करते रात्रि बीत जाती और सूर्य उदय होनेपर पता चलता कि अब प्रातःकाल हो गया है। उस समय प्रभुकी जो भी दशा होती उसे स्वरूपदामोदरजी अपने 'कड़चा' में लिखते जाते थे। सचमुच उन्हीं महानुभावकी कृपासे तो आज संसार श्रीचैतन्यदेवके प्रेमकी अलौकिक दशाओंको समझ सका है, नहीं तो वे भाव प्रत्यक्ष-

रूपसे संसारमें अप्रकट ही बने रहते। ये भाव मानवीय भाषामें व्यक्त किये ही नहीं जाते। इन भावोंको व्यक्त करनेकी तो भाषा ही दूसरी है और उसका नाम 'मूकभाषा' है। कोई परम रसमर्मज्ञ लोकातीत भाव-वाला पुरुष यत्किञ्चित् उसका वर्णन कर सकता है। इसीलिये स्वरूप-दामोदरजीने संसारके ऊपर उपकार करके उसका थोड़ा-बहुत वर्णन किया। वास्तवमें चैतन्यके भावोंको वे ही ठीक-ठीक वर्णन कर भी सकते थे। उस समय प्रभु सदा शरीरज्ञानशून्य-से बने रहते। उनके अन्तरङ्ग भक्त ही उनके शरीरकी रेख-देख और सेवा-शुश्रूषा करते थे। उनमें गोविन्द, जगदानन्द, रघुनाथदास, स्वरूपदामोदर और राय रामानन्दजी—ये ही मुख्य थे। स्वरूप गोस्वामी जो कुछ लिखते थे उसे रघुनाथदासजी कण्ठस्थ करते जाते थे। इस प्रकार स्वरूपदामोदरजीका कड़चा रघुनाथ-दासजीके गलेका सर्वोत्तम हार बन गया। महाप्रभु और स्वरूपदामोदर-जीके तिरोभावके अनन्तर रघुनाथदासजी पुरी छोड़कर श्रीवृन्दावनको चले गये और वहीं एकान्तमें वास करने लगे। 'श्रीचैतन्यचरितामृत' के लेखक गोस्वामी कृष्णदास कविराज उनके परमप्रिय शिष्य थे, इसलिये 'स्वरूप गोस्वामीका कड़चा' उनसे कविराजजीको प्राप्त हुआ। कविराज महाशयने उसी कड़चाके आधारपर अपने परम प्रसिद्ध 'श्रीचैतन्य-चरितामृत' नामक ग्रन्थके अन्तिम सात अध्याय लिखे हैं। इसलिये अब 'स्वरूपदामोदरजीका कड़चा' नामका कोई अलग ग्रन्थ तो मिलता नहीं। इन सात अध्यायोंको ही उसका सार समझना चाहिये। उन महापुरुषने उस अलौकिक दिव्य ग्रन्थका जनतामें क्यों नहीं प्रचार और प्रसार होने दिया, इसे तो वे ही जानें। हम पामर प्राणी भला इस सम्बन्धमें क्या समझ सकते हैं? संसारको उन्होंने इस इतने अधिक दिव्यरसका अनधिकारी समझा होगा। प्रायः देखनेमें भी आता है कि महापुरुष अपना सम्पूर्ण प्रेम किसीपर प्रकट नहीं करते। यदि

अर्थात् 'जो पुरुष प्रेमके विकारको वर्णन करनेका प्रयत्न करता है, उसका प्रयत्न उसी बौने (बावन) के समान है जो सबसे छोटा होनेपर भी आकाशमें स्थित चन्द्रमाको पकड़ना चाहता है। जिस प्रकार अनन्त—अथाह महासागरमेंसे वायु एक कणको उड़ा लाती है, उसी प्रकार श्रीकृष्णप्रेमार्णवपयका एक कण जीवोंको स्पर्श कर सकता है। क्षण-क्षणमें प्रेमकी अनन्त तरङ्गें उठती हैं, भला साधारण जीव उनका पार कैसे पा सकता है! श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु जिस प्रेमरसका आस्वादन करते हैं उसे तो उनके परम प्रियगण श्रीस्वरूपदामोदर तथा रामानन्द राय आदि ही जान सकते हैं।' ऐसा कहकर उन्होंने अपनेको भी प्रेमतत्त्वके वर्णन करनेका अनधिकारी सावित कर दिया है और आप उसीका समर्थन करते हुए स्पष्ट स्वीकार भी करते हैं।

लिख्यते श्रीलगौरेन्दोरत्यद्भुतमलौकिकम्।
यैर्दृष्टं तन्मुखाच्छ्रुत्वा दिव्योन्मादविचेष्टितम्॥

(श्रीचैतन्यच० १७। १)

अर्थात् 'श्रीगौराङ्ग महाप्रभुकी अत्यद्भुत अलौकिक दिव्योन्मादकारक चेष्टाओंको—जिन्होंने (श्रीरघुनाथदासजीने) अपनी आँखोंसे उन चेष्टाओंको प्रत्यक्ष देखा है, उन्हींके मुखसे सुनकर मैं लिखता हूँ।' इस बातसे तो अब सन्देहके लिये कोई स्थान ही नहीं रह जाता। यदि कोई साधारण मनुष्य उनसे इस बातको कहता तो वे उसका विश्वास भी न करते, किन्तु जब साक्षात् रघुनाथजी ही उनसे कह रहे हैं जो कि निरन्तर बारह वर्षोंतक प्रभुके समीप ही रहे थे तब तो उन्हें भी विश्वास करना ही पड़ा, इस बातको वे स्वयं कहते हैं—

शास्त्रलोकातीत येइ येइ भाव हय,
इतर लोकेर ताते ना हय निश्चय।

रघुनाथदासेर सदा प्रभुके संगे स्थिति,
तार मुखे सुनि लिखि करिया प्रतीति ॥

अर्थात् 'महाप्रभुकी इन दिव्योन्मादकारी भावोंको यदि कोई इतर पुरुष कहता तो सम्भवतया निश्चय भी न होता, किन्तु सदा प्रभुके सङ्ग रहनेवाले रघुनाथजीने अपने मुखसे इन भावोंको मुझे बताया तब मैंने इन्हें अपने ग्रन्थमें लिख दिया। इसमें अब शङ्काके लिये स्थान ही नहीं।' इस प्रकार स्थान-स्थानपर उन्होंने इन भावोंको अवर्णनीय बताया है और सात अध्यायोंमें बड़ी सुन्दरतासे वर्णन करके अन्तमें कह दिया है—

प्रभुर गंभीरा लीला ना पारि बूझिते।
बुद्धि प्रवेश नाहि ताते ना पारि वर्णिते ॥

अर्थात् 'महाप्रभुकी गम्भीरा लीला कुछ जानी नहीं जा सकती, बुद्धिका तो वहाँ प्रवेश ही नहीं फिर वर्णन कैसे हो सकता है!' जिस प्रेमोन्मादकारी लीलाको वर्णन करनेमें प्रेमके एकमात्र उपासक, गौर-कृपाके पूर्णपात्र तथा आयुभर वृन्दावनमें ही वास करके प्रेमकी साधना करनेवाले कविराज गोस्वामी अपनी वृद्धावस्थासे काँपती हुई लेखनीको ही असमर्थ बताते हैं तो हम कल-परसोंके छोकरे जिनका कि प्रेममार्ग-में प्रवेश तो क्या झुकाव भी नहीं हुआ है, ऐसे साधारण कोटिके जीव उसका वर्णन ही क्या कर सकते हैं! हमारे लिये तो सबसे सरल उपाय यही है कि इस प्रसङ्गको छोड़ ही दें। किन्तु इस प्रसङ्गको छोड़ना उसी प्रकार होगा जिस प्रकार दूधको दुहकर, औटाकर, जमाकर और उसका दही बनाकर दिनभर मथते रहे और जब मक्खन निकलनेका समय आया तभी उसे छोड़ बैठे। महाप्रभुके जीवनका यही तो सार है, यहींपर तो प्रेमकी पराकाष्ठा होती है, यही तो उनका जीवोंके लिये अन्तिम उपदेश है, इसीको तो ध्रुव लक्ष्य बनाकर साधक आगे बढ़ सकते हैं। इसलिये

इसे छोड़ देना मानो इतने सब किये करायेको बिना सार समझे छोड़ देना है। इसलिये हम इसका अपनी क्षुद्र बुद्धिके अनुसार उन्हीं कविराज गोस्वामीके चरण-चिह्नोंका अनुसरण करते हुए वर्णन करते हैं। अन्य स्थानोंमें तो हमने अपने स्वाभाविक स्वतन्त्रतासे काम लिया है, किन्तु इस विषयमें हम जहाँतक हो सकेगा, इन्हीं पूर्वपुरुषोंकी प्रणालीका ही अनुकरण करेंगे। अक्षरोंका अनुवाद कर देना तो हमारी प्रकृतिके प्रतिकूल है, इसके लिये तो हम मजबूर हैं किन्तु कैसे भी क्यों न करें इन्हीं महानुभावोंके आश्रयसे इस दुर्गम पथको पार कर सकेंगे। इसलिये श्रीचैतन्यदेवके दिव्योन्मादके वर्णन करनेके पूर्व अति संक्षेपमें हम पाठकोंको यह बता देना आवश्यक समझते हैं कि ये प्रेमके भाव, महाभाव तथा विरहकी दशा कितनी होती हैं और इनका वास्तविक स्वरूप क्या है, इस विषयपर मधुररतिके उपासक वैष्णवोंने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं और विस्तारके साथ इन सभी विषयोंका विशदरूपसे वर्णन किया गया है, उन सबको यहाँ बतानेके लिये न तो इतना स्थान ही है और न हममें इतनी योग्यता ही है। हम तो विषयको समझनेके लिये बहुत ही संक्षेपमें इन बातोंका दिग्दर्शन करा देना चाहते हैं जिससे पाठकोंको महाप्रभुकी प्रेमोन्मादकारी दशाको समझनेमें सुगमता हो। वैसे इन दशाओंको समझकर कोई प्रेमी थोड़े ही बन सकता है, जिसके हृदयमें प्रेम उत्पन्न होता है उसकी दशा अपने-आप ही ऐसी हो जाती है। पिङ्गल पढ़कर कोई कवि नहीं बन सकता। स्वाभाविक कविकी कविता अपने-आप ही पिङ्गलके अनुसार बन जाती है। इसलिये इन बातोंका वर्णन प्रेम प्राप्त करनेके निमित्त नहीं, किन्तु प्रेमकी दशा समझनेके लिये करते हैं।

और उनके धर्मोंसे परेकी वस्तु है। इसीको 'राग' के नामसे भी पुकारते हैं। इस 'काम', 'प्रेम' अथवा रागके तीन भेद हो सकते हैं—पूर्वराग, मिलन और विछोह या विरह।

जिसके हृदयमें प्रेम उत्पन्न हो जाता है उसे घर-द्वार, कुटुम्ब-परिवार, संसारी विषय-भोग कुछ भी नहीं सुहाते। सदा अपने प्यारेका ही चिन्तन बना रहता है। प्रेमीकी दशा उस पुतलीकी-सी हो जाती है जिसे अपने प्राणोंसे अत्यन्त ही मोह हो और उसे फाँसीके लिये कारागारके फाँसीघरमें बन्द कर रखा हो; जिस प्रकार प्राणोंके भयसे उसकी क्रियाएँ और चेष्टाएँ होती हैं उसी प्रकारकी चेष्टाएँ रागीकी अथवा प्रेमीकी भी होती हैं। रागमार्गके उपासक वैष्णवोंने अपने ग्रन्थोंमें इन सब दशाओंका बड़े विस्तारके साथ वर्णन किया है। इस संकुचित स्थलमें न तो उनका उल्लेख ही हो सकता है और न यहाँ उनके उल्लेखका कुछ विशेष प्रयोजन ही दिखायी देता है। इस सम्बन्धमें अष्ट सात्विक विकारोंका बहुत उल्लेख आता है और ये ही अत्यन्त प्रसिद्ध भी हैं, अतः यहाँ बहुत ही संक्षेपमें पहले उन्हीं आठ विकारोंका वर्णन करते हैं। ये आठ ये हैं—स्तम्भ, कम्प, स्वेद, वैवर्ण्य, अश्रु, स्वरभङ्ग, पुलक और प्रलय। ये भय, शोक, विस्मय, क्रोध और हर्षकी अवस्थामें उत्पन्न होते हैं। प्रेमके लिये ही इन भावोंको 'सात्विक विकार' कहा गया है। अब इनकी संक्षिप्त व्याख्या सुनिये।

स्तम्भ—शरीरका स्तब्ध हो जाना। मन और इन्द्रियाँ जब चेष्टा-रहित होकर निश्चल हो जाती हैं उस अवस्थाको स्तम्भ कहते हैं।

कम्प—शरीरमें कँपकँपी पैदा हो जाय उसे 'वेपथु' या 'कम्प' कहते हैं। अर्जुनकी युद्धके आरम्भमें भयके कारण ऐसी दशा हुई थी।

प्रेमकी अवस्थाओंका संक्षिप्त परिचय

कैतवरहितं प्रेम नहि भवति मानुषे लोके।
यदि भवति कस्य विरहो विरहे सत्यपि को जीवति ॥*

लोकमर्यादाको मेटकर मोहनसे मन लगानेको मनीषियोंने प्रेम कहा है। प्रेमके लक्षणमें इतना ही कहना यथेष्ट है कि—

प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम्।

अर्थात् 'गोपियोंके शुद्धप्रेमको ही 'काम' के नामसे पुकारनेकी परिपाटी पड़ गयी है।' इससे यही तात्पर्य निकला कि प्रेममें इन्द्रिय-सुखकी इच्छाओंका एकदम अभाव होता है। क्योंकि गोपिकाओंके काममें किसी प्रकारके अपने शरीरसुखकी इच्छा नहीं थी। वे जो कुछ करती थीं केवल श्रीकृष्णकी प्रसन्नताके निमित्त। इसलिये शुद्धप्रेम इन्द्रिय

---

* मनुष्यलोकमें निष्कपट प्रेम तो होता ही नहीं, कदाचित् किसीको हो भी जाय तो उसे प्रेमका सारभूत विरह प्राप्त नहीं होता। यदि विरह भी प्राप्त हो जाय तो फिर वह जीवित तो कदापि रह ही नहीं सकता। श्रीरूप गोस्वामी भी कहते हैं—

भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते।
तावत् भक्तिसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत्॥

अर्थात् 'जबतक भुक्ति और मुक्तिकी इच्छारूपिणी पिशाची हृदयमें बैठी हुई है तबतक वहाँ भक्तिसुखकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है?'

और उनके धर्मसे परेकी वस्तु है। इसीको 'राग' के नामसे भी पुकारते हैं। इस 'काम', 'प्रेम' अथवा रागके तीन भेद हो सकते हैं—पूर्वराग, मिलन और विछोह या विरह।

जिसके हृदयमें प्रेम उत्पन्न हो जाता है उसे घर-द्वार, कुटुम्ब-परिवार, संसारी विषय-भोग कुछ भी नहीं सुहाते। सदा अपने प्यारेका ही चिन्तन बना रहता है। प्रेमीकी दशा उस पुरुषकी-सी हो जाती है जिसे अपने प्राणोंसे अत्यन्त ही मोह हो और उसे फाँसीके लिये कारावासके फाँसीघरमें बन्द कर रखा हो; जिस प्रकार प्राणोंके भयसे उसकी क्रियाएँ और चेष्टाएँ होती हैं उसी प्रकारकी चेष्टाएँ रागीकी अथवा प्रेमीकी भी होती हैं। रागमार्गके उपासक वैष्णवोंने अपने ग्रन्थोंमें इन सब दशाओंका बड़े विस्तारके साथ वर्णन किया है। इस संकुचित स्थलमें न तो उनका उल्लेख ही हो सकता है और न यहाँ उनके उल्लेखका कुछ विशेष प्रयोजन ही दिखायी देता है। इस सम्बन्धमें अष्ट सात्त्विक विकारोंका बहुत उल्लेख आता है और वे ही अत्यन्त प्रसिद्ध भी हैं, अतः यहाँ बहुत ही संक्षेपमें पहले उन्हीं आठ विकारोंका वर्णन करते हैं। वे आठ ये हैं—स्तम्भ, कम्प, स्वेद, वैवर्ण्य, अश्रु, स्वरभङ्ग, पुलक और प्रलय। ये भय, शोक, विस्मय, क्रोध और हर्षकी अवस्थामें उत्पन्न होते हैं। प्रेमके लिये ही इन भावोंको 'सात्त्विक विकार' कहा गया है। अब इनकी संक्षिप्त व्याख्या सुनिये।

स्तम्भ—शरीरका स्तब्ध हो जाना। मन और इन्द्रियाँ जब चेष्टा-रहित होकर निश्चल हो जाती हैं उस अवस्थाको स्तम्भ कहते हैं।

कम्प—शरीरमें कँपकँपी पैदा हो जाय उसे 'वेपथु' या 'कम्प' कहते हैं। अर्जुनकी युद्धके आरम्भमें भयके कारण ऐसी दशा हुई थी।

उन्होंने स्वयं कहा है—'वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ।' अर्थात् 'मुझे कँपकँपी छूट रही है, रोंगटे खड़े हो गये हैं ।'

स्वेद—शरीरमेंसे पसीना छूटना या पसीनेमें 'लथपथ' हो जाना इसे 'स्वेद' कहते है ।

अश्रु—विना प्रयत्न किये शोक, विस्मय, क्रोध अथवा हर्षके कारण आँखोंमेंसे जो जल निकलता है उसे 'अश्रु' कहते हैं । हर्षमें जो अश्रु निकलते हैं वे ठण्डे होते हैं और वे प्रायः आँखोंकी कोरसे नीचेको बहते है । शोकके अश्रु गरम होते हैं और वे बीचसे ही बहते हैं ।

स्वरभङ्ग—मुखसे अक्षर स्पष्ट उच्चारण न हो सके उसे 'स्वर-भेद','गद्गद' या 'स्वरभङ्ग' कहते हैं ।

वैवर्ण्य—उपर्युक्त कारणोंसे मुखपर जो एक प्रकारकी उदासी, पीलापन या फीकापन आ जाता है उसे 'वैवर्ण्य' कहते हैं । उसका असली स्वरूप है, आकृतिका बदल जाना ।

पुलक—शरीरके सम्पूर्ण रोम खड़े हो जायँ उसे 'पुलक' या 'रोमाञ्च' कहते हैं ।

प्रलय—जहाँ शरीरका तथा भले-बुरेका ज्ञान ही न रह जाय उसे प्रलय कहते है । इन्हीं सब कारणोंसे बेहोशी हो जाती है । इस अवस्थामे प्रायः लोग पृथिवीपर गिर पड़ते हैं । बेहोश होकर धड़ामसे पृथिवीपर गिर पड़नेका नाम 'प्रलय' है ।

ये उपर्युक्त भाव हर्ष, विस्मय, क्रोध, शोक आदि सभी कारणोंसे होते हैं, किन्तु प्रेमके पक्षमें ही ये प्रशंसनीय हैं ।

पीछे हम पूर्वराग, मिलन और वियोग अथवा विछोह—ये तीन अवस्थाएँ प्रेमकी बता चुके हैं । अब उनके सम्बन्धमें कुछ सुनिये ।

पूर्वराग—प्यारेसे साक्षात्कार तो हुआ नहीं है, किन्तु चित्त उसके लिये तड़प रहा है इसे ही संक्षेपमें पूर्वराग कह सकते हैं। दिन-रात्रि उसीका ध्यान, उसीका चिन्तन और उसीके सम्बन्धका ज्ञान बना रहे। मिलनेकी उत्तरोत्तर इच्छा बढ़ती ही जाय इसीका नाम पूर्वराग है। इस दशामें शरीरसे घर-द्वार तथा जीवनसे भी एकदम वैराग्य हो जाता है। उदाहरणके लिये इसी श्लोकको लीजिये—

हे देव हे दयित हे भुवनैकबन्धो
हे कृष्ण हे चपल हे करुणैकसिन्धो।
हे नाथ हे रमण हे नयनाभिराम
हा! हा!! कदा नु भवितासि पदं दृशोर्मे?॥*

इस श्लोकमें परम करुणापूर्ण सम्बोधनोंद्वारा बड़ी ही मार्मिकताके साथ प्यारेसे दर्शन देनेकी प्रार्थना की गयी है। सचमुच अनुराग इसीका नाम है। ऐसी लगन हो तब कहीं वह निगोड़ा इस ओर दृष्टिपात करता है। बड़ा निर्दयी है!

मिलन—यह विषय वर्णनातीत है। सम्मिलनमें क्या सुख है, यह बात तो अनुभवगम्य है, इसे तो प्रेमी और प्रेमपात्रके सिवा दूसरा कोई जान ही नहीं सकता। इसीलिये कवियोंने इसका विशेष वर्णन नहीं किया है। सम्मिलनसुखको तो दो ही एक होकर जान सकते हैं। वे स्वयं उसका वर्णन करनेमें असमर्थ होते हैं फिर कोई वर्णन करे भी तो कैसे करे? अनुभव होनेपर वर्णन करनेकी शक्ति नहीं रहती और बिना अनुभवके वर्णन व्यर्थ है। इसलिये इस

* हे देव! हे दयालो! हे विश्वके एकमात्र बन्धु! ओ काले! अरे ओ चपल! हे करुणाके सागर! हे स्वामिन्! हे मेरे साथ रमण करनेवाले! हे मेरे नेत्रोंके सुख देनेवाले प्राणेश! तुम कब हमें दर्शन दोगे?

विषयमें सभी कवि उदासीन-से ही दीख पड़ते हैं। श्रीमद्भागवतादिमें वर्णन है, किन्तु वह आटेमें नमकके ही समान प्रसङ्गवश यत्किञ्चित् है। सभीने विरहके वर्णनमें ही अपना पाण्डित्य प्रदर्शित किया है। और यदि कुछ वर्णन हो सकता है तो यत्किञ्चित् विरहका ही हो भी सकता है। उसीके वर्णनमें मजा है। सम्मिलन सुखको तो वे दोनों ही लूटते हैं। सुनिये, रसिक रसखानजीने दूर खड़े होकर इस सम्मिलनका बहुत ही थोड़ा वर्णन किया है। किन्तु वर्णन करनेमें कमाल कर दिया है। दो प्रेमियोंके सम्मिलनका इतना सजीव और जीता-जागता चित्र शायद ही किसी अन्य कविकी कवितामें मिले। एक सखी दूसरी सखीसे श्रीराधिकाजी और श्रीकृष्णके सम्मिलनका वर्णन कर रही है। सखी कहती है—

ऐ री ! आज कालिह सब लोकलाज त्यागि दोऊ,
सीखे हैं सबै बिधि सनेह सरसायबो।
यह 'रसखान' दिन द्वैमें बात फैलि जैहैं,
कहाँ लौं सयानी ! चंद हाथन छिपायबो॥
आज हौं निहारयो धीर, निकट कालिंदी-तीर,
दोउनको दोउनसौं मुख मुसकायबो।
दोउ परैं पैयाँ दोउ लेत हैं बलैयाँ, उन्हैं,
भूल गईं गैयाँ, इन्हैं गागर उठायबो॥

कैसा सजीव वर्णन है! वह भी कालिन्दी-कूलपर एकान्तमें हुआ था, इसलिये छिपकर सखीने देख भी लिया, कहीं अन्तःपुरमें होता तो फिर वहाँ उसकी पहुँच कहाँ!

'दोउ परैं पैयाँ दोउ लेत हैं बलैं
भूल गईं गैयाँ, इ

—कहकर तो सखीने कमाल कर दिया है। धन्य है ऐसे सम्मिलनको!

विरह—इन तीनोंमें उत्तरोत्तर एक दूसरीसे श्रेष्ठ है। पूर्वानुरागकी अपेक्षा मिलन श्रेष्ठ है और मिलनकी अपेक्षा विरह श्रेष्ठ है, प्रेमरूपी दूधका विरह ही मक्खन है। इसीलिये कबीरदासजीने कहा है—

बिरहा बिरहा मत कहौ, बिरहा है सुलतान।
जेहि घट बिरह न संचरै, सो घट जान मसान॥

अब विरहके भी तीन भेद हैं—भविष्य विरह, वर्तमान विरह और भूत विरह। इनमें भी परस्पर उत्तरोत्तर उत्कृष्टता है। भावी विरह बड़ा ही करुणोत्पादक है, उससे भी दुःखदायी वर्तमान विरह। भूत विरह तो दुःख-सुखकी पराकाष्ठासे परे ही है।

पहले भावी विरहको ही लीजिये। 'प्यारा कल चला जायगा' बस, इस भावके उदय होते ही जो कलेजेमें एक प्रकारकी ऐंठन-सी होने लगती है, उसी ऐंठनका नाम 'भावी विरह' है। इसका उदय नायिकाके ही हृदयमें उत्पन्न होता हो, सो बात नहीं है। अपने प्यारेके बिछोहमें सभीके हृदयमें यह विरह-वेदना उत्पन्न हो सकती है।

जिस कन्याको आज पंद्रह-बीस वर्षोंसे पुत्रीकी तरह लाड़-प्यार किया था, वही शकुन्तला आश्रम त्यागकर अपने पतिके घर जायगी, इस बातके स्मरणसे ही शकुन्तलाके धर्मपिता भगवान् कण्व ऋषिका कलेजा काँपने लगा। हाय! अब शकुन्तला फिर देखनेको न मिलेगी! इस विचारसे वे शोकयुक्त हुए बैठे हैं। वे कैसे भी सहृदय क्यों न थे, किन्तु थे तो ज्ञानोपासक। चिन्तामें एकदम रागमार्गीय गोपिकाओंकी भाँति अपनेको भूल नहीं गये। ये उस अन्तःकरणकी स्वाभाविक प्रवृत्ति-पर विचार करते-करते कहने लगे। ऋषिके इन वाक्योंमें कितनी करुणा-

है, कैसी वेदना है, पुत्री-विरहका यह संस्कृतभाषामें सर्वोत्कृष्ट श्लोक कहा जा सकता है। ऋषि सोच रहे हैं—

यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया
कण्ठः स्तम्भितवाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम्।
वैक्लव्यं मम तावदीदृशमपि स्नेहादरण्यौकसः
पीड्यन्ते गृहिणः कथं न तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः॥

'शकुन्तला आज चली जायगी' इस विचारके आते ही मेरे हृदयमें एक प्रकारकी कँपकँपी-सी हो रही है, एक प्रकारकी विचित्र उत्कण्ठा-सी प्रतीत होती है। गला अपने-आप रुद्ध-सा हो रहा है, अश्रु स्वतः ही निकले पड़ते हैं, एक प्रकारकी जड़ताका अनुभव कर रहा हूँ। न जाने क्यों दिलमें घबड़ाहट-सी हो रही है। जब वनवासी वीतराग मुझ मुनिकी ही ऐसी दशा है, तो गृहस्थाश्रमके मोहमें फँसे हुए गृहस्थियोंकी तो पुत्री-वियोगके समय न जाने क्या दशा होती होगी!'

इन वाक्योंमें भगवान् कण्वकी छिपी हुई भारी वेदना है। वे अपने भारी ज्ञानके प्रभावसे उसे छिपाना चाहते हैं, किन्तु श्रीकृष्णके मथुरागमनका समाचार सुनकर गोपिकाओंको जो भावी विरह-वेदना हुई वह तो कुछ बात ही दूसरी है। वैसे तो सभीका विरह उत्कृष्ट है, किन्तु राधिकाजीके विरहको ही सर्वोत्कृष्ट माना गया है। एक सखी इस हृदयको हिला देनेवाले समाचारको लेकर श्रीमतीजीके समीप जाती है। उसे सुनते ही राधिकाजी कर्तव्यविमूढ़िनी-सी होकर प्रलाप करने लगती हैं। उनके प्रलापको मिथिलाके अमर कवि श्रीविद्यापति ठाकुरके शब्दोंमें सुनिये। अहा! कितना बढ़िया वर्णन है। राधिकाजी कह रही हैं—

कि करिब, कोथा याब, सोयाय ना हय।
ना याय कठिन प्राण किबा लागि रय॥

पियार लागिया हाम कोन देशे याव।
रजनी प्रभात हैले कार मुख चाय॥
बन्धु याबे दूर देशे मरिब आमि शोके।
सागरे त्यजिब प्राण नाहि देखे लोके॥
नहेत पियार गलार माला ये करिया।
देशे देशे भरमिब योगिनी हइया॥
विद्यापति कवि इह दुःख गान।
राजा शिवसिंह लछिमा परमान॥

'मैं क्या करूँ ? कहाँ जाऊँ ? कुछ अच्छा नहीं लगता। अरे ! ये निष्ठुर प्राण भी तो नहीं निकलते। प्रियतमके लिये मैं किस देशमें जाऊँ, रजनी बीतनेपर प्रातःकाल किसके कमलमुखकी ओर निहारूँगी ? प्यारे तो दूर देशमें जा रहे हैं, मैं उनके विरह-शोकमें मर जाऊँगी। समुद्रमें कूदकर प्राण गँवा दूँगी जिससे लोगोंकी दृष्टिसे ओझल रह सकूँ। नहीं तो प्यारेको गलेकी माला बनाकर देश-विदेशोंमें योगिनी बनकर घूमती रहूँगी। कवि विद्यापति इस दुःखपूर्ण गानको गाता है, इसमें लक्षिमा और राजा शिवसिंह प्रमाण हैं।' यह भावी विरहका उदाहरण है। अब वर्तमान विरहकी बात सुनिये—

जो अबतक अपने साथ रहा, जिसके साथ रहकर भाँति-भाँतिके सुख भोगे, विविध प्रकारके आनन्दका अनुभव किया वही जानेके लिये एकदम तैयार खड़ा है। उस समय जो दिलमें एक प्रकारकी धड़कन होती है, सीनेमें कोई मानो साथ ही सैकड़ों सुइयाँ चुभो रहा हो, उसी प्रकारकी-सी कुछ-कुछ दशा होती है उसे ही 'वर्तमान विरह' कहते हैं।

शकुन्तला अपने धर्मपिता भगवान् कण्वके पैर छूकर और प्रियंवदा आदि सखियोंसे मिल-जुलकर पासकी कुटियामेंसे धीरे-धीरे

निकलकर भगवान् कण्वकी हवनवेदीवाले चबूतरेके नीचे एक [illegible] सहारेसे खड़ी हो गयी है। सभी शिष्यवर्ग शोकसे शिर नीचा किये [illegible] उधर खड़े हैं। शकुन्तलाकी सखियाँ सुबकियाँ भर रही हैं, [illegible] शिष्य वल्कल वस्त्रोंकी पुटलियोंको बगलमें दाबे एक ओर खड़े हैं। भगवान् कण्वका कलेजा कटा-सा जा रहा है, मानो उसे [illegible] खींच रहा हो। इतने बड़े कुलपति होकर अपनी विरहवेदनाको [illegible] पर प्रकट करें। जो सुनेगा वही हँसेगा कि इतने बड़े ज्ञानी [illegible] ऐसी भूली-भूली मोहकी-सी बातें कर रहे हैं। इस भयसे वे और [illegible] से न कहकर वृक्षोंसे कह रहे हैं—

> पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या
> नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।
> आद्यौ वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः
> सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम्॥

है, लोकलाजकी परवा की है। 'प्रेममें नेम कहाँ ?' वहाँ तो सब कुछ छोड़ना होता है। इस प्रकारकी गम्भीरता और वाक्चातुरी रागमार्गमें दूषण ही समझा जाता है, इन भावोंमें प्रेमकी न्यूनता ही समझी जाती है। इसीलिये तो कवियोंने नायिकाओंके ही द्वारा ये भाव प्रकट कराये हैं। सचमुच ये भाव सरस नारीहृदयमें पूर्णरीत्या प्रकट हो सकते हैं। गोपिकाओंके बिना इस विरह-वेदनाका अधिकारी दूसरा हो ही कौन सकता है ? रथपर बैठकर मथुरा जानेवाले कृष्णके विरहमें व्रजाङ्गनाओं-की क्या दशा हुई, इसे भगवान् व्यासदेवकी ही अमर वाणीमें सुनिये। उनके बिना इस अनुभवगम्य विषयका वर्णन कर ही कौन सकता है ?

एवं ब्रुवाणा विरहातुरा भृशं
व्रजस्त्रियः कृष्णविषक्तमानसाः।
विसृज्य लज्जां रुरुदुः स्म सुस्वरं
गोविन्द दामोदर माधवेति॥

श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित्से कह रहे हैं—'राजन्! जिनके चित्त श्रीकृष्णमें अत्यन्त ही आसक्त हो रहे हैं, जो भविष्यमें होनेवाले विरह-दुःखको स्मरण करके घबड़ायी हुई, नाना भाँतिके आर्तवचनोंको कहती हुई और लोकलाज आदि बातकी भी परवा न करती हुई वे व्रजकी स्त्रियाँ ऊँचे स्वरसे चिल्ला-चिल्लाकर हा गोविन्द! हा माधव!! हा दामोदर!!! कह-कहकर रुदन करने लगीं।' यही वर्तमान विरहका सर्वोत्तम उदाहरण है।

प्यारे चले गये, अब उनसे फिर कभी भेंट होगी या नहीं इसी
का नाम 'भूत विरह' है। इसमें आशा-निराशा दोनोंका सम्मिश्रण
मिलनकी एकदम आशा ही न रहे तो फिर जीवनका
क्षणभरमें इस शरीरको भस्म-कर दें। प्यारेके
है, किन्तु पता नहीं वह आशा कब पूरी

निकलकर भगवान् कण्वकी हवनवेदीवाले चबूतरेके नीचे एक पेड़के सहारेसे खड़ी हो गयी है । सभी शिष्यवर्ग शोकसे शिर नीचा किये इधर-उधर खड़े हैं । शकुन्तलाकी सखियाँ सुबकियाँ भर रही हैं, साथ जानेवाले शिष्य वल्कल वस्त्रोंकी पुटलियोंको बगलमें दाबे एक ओर खड़े हैं । भगवान् कण्वका कलेजा कटा-सा जा रहा है, मानो उसे बलात् कोई खींच रहा हो । इतने बड़े कुलपति होकर अपनी विरहवेदनाको किस-पर प्रकट करें । जो सुनेगा वही हँसेगा कि इतने बड़े ज्ञानी महर्षि ये कैसी भूली-भूली मोहकी-सी बातें कर रहे हैं । इस भयसे वे और किसी-से न कहकर वृक्षोंसे कह रहे हैं—

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या
नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम् ।
आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम् ॥

'वृक्षो ! यह शकुन्तला अपने पतिके घर जा रही है । देखो, तुम्हारे प्रति तो इसका अत्यन्त ही स्नेह था । जबतक यह तुम्हें पानी नहीं पिला लेती थी तबतक स्वयं भी पानी नहीं पीती थी । इसे गहने पहिननेका यद्यपि बड़ा भारी शौक था, फिर भी यह तुम्हारे स्नेहके कारण तुम्हारे पत्तोंको नहीं तोड़ती थी । वसन्तमें जब तुमपर नये-ही नये फूल आते थे तब यह उस खुशीमें बड़ा भारी उत्सव मनाती थी । हाय ! वही तुम सब लोगोंकी रक्षा करनेवाली शकुन्तला अब जा रही है, तुम सब मिलकर इसे आज्ञा दो ।'

महर्षिके एक-एक शब्दमें करुणा फूट-फूटकर निकल रही है । मूक वृक्षोंके प्रति अपनी वेदना प्रकट करके ऋषिने उसे और भी अधिक हृदयग्राही बना दिया है । किन्तु इसमें भावको छिपानेकी चेष्टा की गयी

है, लोकलाजकी परवा की है। 'प्रेममें नेम कहाँ ?' वहाँ तो सब कुछ छोड़ना होता है। इस प्रकारकी गम्भीरता और वाक्चातुरी रागमार्गमें दूषण ही समझा जाता है, इन भावोंमें प्रेमकी न्यूनता ही समझी जाती है। इसीलिये तो कवियोंने नायिकाओंके ही द्वारा ये भाव प्रकट कराये हैं। सचमुच ये भाव सरस नारीहृदयमें पूर्णरीत्या प्रकट हो सकते हैं। गोपिकाओंके बिना इस विरह-वेदनाका अधिकारी दूसरा हो ही कौन सकता है ? रथपर बैठकर मथुरा जानेवाले कृष्णके विरहमें व्रजाङ्गनाओं-की क्या दशा हुई, इसे भगवान् व्यासदेवकी ही अमर वाणीमें सुनिये। उनके बिना इस अनुभवगम्य विषयका वर्णन कर ही कौन सकता है !

एवं ब्रुवाणा विरहातुरा भृशं
व्रजस्त्रियः कृष्णविषक्तमानसाः।
विसृज्य लज्जां रुरुदुः स्म सुस्वरं
गोविन्द दामोदर माधवेति॥

श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित्से कह रहे हैं—'राजन्! जिनके चित्त श्रीकृष्णमें अत्यन्त ही आसक्त हो रहे हैं, जो भविष्यमें होनेवाले विरह-दुःखको स्मरण करके घबड़ायी हुई, नाना भाँतिके आर्तवचनोंको कहती हुई और लोकलाज आदि बातकी भी परवा न करती हुई वे व्रजकी स्त्रियाँ ऊँचे स्वरसे चिल्ला-चिल्लाकर हा गोविन्द! हा माधव!! हा दामोदर!!! कह-कहकर रुदन करने लगीं।' यही वर्तमान विरहका सर्वोत्तम उदाहरण है।

प्यारे चले गये, अब उनसे फिर कभी भेंट होगी या नहीं इसी द्विविधाका नाम 'भूत विरह' है। इसमें आशा-निराशा दोनोंका सम्मिश्रण है। यदि मिलनकी एकदम आशा ही न रहे तो फिर जीवनका काम ही क्या ? फिर तो क्षणभरमें इस शरीरको भस्म कर दें। प्यारेके मिलनकी आशा तो अवश्य है, किन्तु पता नहीं वह आशा कब पूरी

होगी। पूरी होगी भी या नहीं, इसका भी कोई निश्चय नहीं। बस, प्यारेके एक ही बार, दूरसे ही थोड़ी ही देरके लिये क्यों न हों, दर्शन हो जायँ। बस, इसी एक लालसासे वियोगिनी अपने शरीरको धारण किये रहती है। उस समय उसकी दशा विचित्र होती है। साधारणतया उस विरहकी दस दशाएँ बतायी गयी हैं। वे ये हैं—

चिन्तात्र जागरोद्वेगौ तानवं मलिनाङ्गता।
प्रलापो व्याधिरुन्मादो मोहो मृत्युर्दशा दश॥

(उज्ज्वलनीलमणि शृं० ६४)

'चिन्ता, जागरण, उद्वेग, कृशता, मलिनता, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, मोह और मृत्यु—ये ही विरहकी दस दशाएँ हैं।' अब इनका संक्षिप्त विवरण सुनिये।

चिन्ता—अपने प्यारेके ही विषयमें सोते-जागते, उठते-बैठते हर समय सोचते रहनेका नाम चिन्ता है। मनमें दूसरे विचारोंके लिये स्थान ही न रहे। व्रजभाषागगनके परम प्रकाशमान 'सूर' ने चिन्ताका कैसा सजीव वर्णन किया है—

नाहिन रह्यो मनमें ठौर।
नंद-नंदन अछत कैसे आनिये उर और॥
चलत चितवत दिवस जागत, सुपन सोवत रात।
हृदयतें वह स्याम मूरति छिन न इत उत जात॥
स्याम गात सरोज आनन ललित-गति मृदु-हास।
'सूर' ऐसे रूप कारन मरत लोचन-प्यास॥

प्यासेको फिर नींद कहाँ? नींद तो आँखोंमें ही आती है और आँखें ही रूपकी प्यासी हैं, ऐसी अवस्थामें नींद वहाँ आ ही नहीं सकती। इसलिये विरहकी दूसरी दशा 'जागरण' है।

जागरण—न सोनेका ही नाम 'जागरण' है। यदि विरहिणीको क्षणभरके लिये निद्रा आ जाय तो वह स्वप्नमें तो प्रियतमके दर्शन-सुखका आनन्द उठा ले। किन्तु उसकी आँखोंमें नींद कहाँ ? राधिकाजी अपनी एक प्रिय सखीसे कह रही हैं—

याः पश्यन्ति प्रियं स्वप्ने धन्यास्ताः सखि योषितः।
अस्माकं तु गते कृष्णे गता निद्रापि वैरिणी॥

(पद्यावली)

'प्यारी सखी ! वे स्त्रियाँ धन्य हैं जो प्रियतमके दर्शन स्वप्नमें तो कर लेती हैं। मुझ दुःखिनीके भाग्यमें तो यह सुख भी नहीं बदा है। मेरी तो वैरिणी निद्रा भी श्रीकृष्णके साथ-ही-साथ मथुराको चली गयी। वह मेरे पास आती ही नहीं।' धन्य है, निद्रा आवे कहाँ ? आँखोंमे तो प्यारेके रूपने अड्डा जमा लिया है। एक म्यानमें दो तलवार समा ही कैसे सकती हैं ?

उद्वेग—हृदयमें जो एक प्रकारकी हलचलजन्य बेकली-सी होती है उसीका नाम उद्वेग है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने उद्वेगका कितना सुन्दर वर्णन किया है—

व्याकुल ही तड़पौं बिनु प्रीतम,
कोऊ तौ नेकु दया उर लाओ।
प्यासी तजौं तनु रूप-सुधा बिनु,
पानिय पीको पपीहै पिआओ॥
जीयमें हौस कहूँ रहि जाय न,
हा ! 'हरिचंद' कोऊ उठि धाओ।
आवै न आवै पिआरो अरे !
कोउ हाल तौ जाइकै मेरो सुनाओ॥

पागलपनकी हद हो गयी न ! भला, कोई जाकर हाल ही सुना देता तो इससे क्या हो जाता ! अब चौथी दशा कृशताका समाचार सुनिये।

कृशता—प्यारेकी यादमें बिना खाये-पीये दिन-रात चिन्ता करनेके कारण जो शरीर दुबला हो जाता है उसे 'कृशता' या 'तानव' कहते हैं। इसका उदाहरण लीजिये। गोपियोंकी दशा देखकर ऊधोजी मथुरा लौटकर आ गये हैं और बड़े ही करुणस्वरसे राधिकाजीकी दशाका वर्णन कर रहे हैं। अन्धे सूरने इस वर्णनमें कमाल कर दिया है, सुनिये—

चित दै सुनौ स्याम प्रबीन।
हरि ! तुम्हारे बिरह राधा, भैं जु देखी छीन॥
तज्यो तेल तमोल भूषन, भंग बसन मलीन।
कंकना कर बाम राख्यो, गाढ़ भुज गहि लीन॥
जब सँदेसो कहन सुंदरि, गमन मोतन कीन।
खसि मुद्रावलि चरन अरझी, गिरि धरनि बलहीन॥
कंठ बचन न बोल आवै, हृदय आँसुनि भीन।
नैन जल भरि रोइ दीनों, ग्रसित आपद दीन॥
उठी बहुरि सँभारि भट ज्यों, परम साहस कीन।
'सूर' प्रभु कल्यान ऐसे, जियहि आसा लीन॥

यदि इसी एक अद्वितीय पदको विरहकी सभी दशाओंके लिये उद्धृत कर दें तो सम्पूर्ण विरह-वेदनाके चित्रको खींचनेमें पर्याप्त होगा। विरहिणी राधाकी 'कृशता' 'मलिनता' 'चिन्ता' 'उद्वेग' 'व्याधि' 'मोह' और मृत्युतककी दसों दशाओंका वर्णन इसी एक पदमें कर दिया है। मृत्युको शास्त्रकारोंने साक्षात् मृत्यु न बताकर 'मृत्युतुल्य अवस्था' ही

बताया है। राधिकाजीकी इससे बढ़कर और मृत्युतुल्य अवस्था हो ही क्या सकती है ?

मलिनांङ्गता—शरीरकी सुधि न होनेसे शरीरपर मैल जम जाता है, बाल चिकट जाते हैं, वस्त्र गंदे हो जाते हैं इसे ही 'मलिनता' या मलिनाङ्गता कहते हैं। ऊपरके पदमें राधिकाजीके लिये आया ही है—

तज्यो तेल तमोल भूषन, अंग बसन मलीन।

प्रलाप—शोकके आवेशमें अपने-परायेको भूलकर जो पागलोंकी तरह भूली-भूली बातें करने लगते हैं उनका नाम प्रलाप है। सीताजीकी खोजमें लक्ष्मणजीके साथ रामचन्द्रजी वनोंमें फिर रहे हैं। हृदयमे भारी विरह है, अपने-परायेका ज्ञान नहीं, शरीरका होश नहीं, वे चौंककर खड़े हो जाते हैं और प्रलाप करने लगते हैं—

कोऽहं ब्रूहि सखे स्वयं स भगवानार्यः स को राघवः
के यूयं बत नाथ नाथ किमिदं दासोऽस्मि ते लक्ष्मणः।
कान्तारे किमिहास्महे बत सखे देव्या गतिर्मृग्यते
का देवी जनकाधिराजतनया हा जानकि क्वासि हा॥

भगवान् लक्ष्मणजीसे चौंककर पूछते हैं—'भैया ! मैं कौन हूँ, मुझे बताओ तो सही ?'

लक्ष्मण कहते हैं—'प्रभो आप साक्षात् भगवान् हैं।'

फिर पूछते हैं—'कौन भगवान् ?'

लक्ष्मण कहते हैं—'रघुमहाराजके वंशमें उत्पन्न होनेवाले श्रीराम।'

फिर चारों ओर देखकर पूछते हैं—'अच्छा तुम कौन हो ?'

यह सुनकर अत्यन्त ही अधीर होकर लक्ष्मणजी दीनताके साथ कहते हैं—'हे स्वामिन् ! हे दयालो ! यह आप कैसी बातें कर रहे हैं। मैं आपका चरणसेवक लक्ष्मण हूँ।'

भगवान् फिर उसी प्रकार कहते हैं—'तब फिर हम यहाँ जंगलोंमे क्यों घूम रहे हैं ?'

शान्तिके साथ धीरेसे लक्ष्मणजी कहते हैं—'हम देवीकी खोज कर रहे हैं।'

चौंककर भगवान् पूछते हैं—'कौन देवी ?'

लक्ष्मणजी कहते हैं—'जगद्वन्दिनी, जनकनन्दिनी श्रीसीताजी।'

बस, सीताजीका नाम सुनते ही 'हा सीते ! हा जानकि ! तू कहाँ चली गयी' कहते-कहते भगवान् मूर्छित हो जाते हैं। इन बेसिर-पैरकी बातोंका ही नाम 'प्रलाप' है।

व्याधि—शरीरमें किसी कारणसे जो वेदना होती है उसे 'व्याधि' कहते हैं और मनकी वेदनाको 'आधि' कहते हैं। विरहकी 'व्याधि' भी एक दशा है। उदाहरण लीजिये। श्रीराधाजी अपनी प्रिय सखी ललितासे कह रही हैं—

उत्तापी पुटपाकतोऽपि गरलग्रामादपि क्षोभणो
दम्भोलेरपि दुःसहः कटुरलं हृन्मग्नशल्यादपि।
तीव्रः प्रौढविसूचिकानिचयतोऽप्युच्चैर्ममायं बली
मर्माण्यद्य भिनत्ति गोकुलपतेर्विश्लेषजन्मा ज्वरः॥

(ललितमाधवनाटक)

हे सखी ! गोकुलपति उस गोपालका विच्छेदज्वर मुझे बड़ी ही पीड़ा दे रहा है। यह पात्रमें तपाये सुवर्णसे भी अधिक उत्तापदायी है। पृथिवीपर जितने जहर हैं उन सबसे भी अधिक क्षोभ पहुँचानेवाला है, वज्रसे भी दुःसह, हृदयमें छिदे हुए शल्यसे भी अधिक कष्टदायी है तथा

तीव्र विसूचिकादि रोगोंसे भी बढ़कर यन्त्रणाएँ पहुँचा रहा है। प्यारी सखी! यह ज्वर मेरे मर्मस्थानोंको भेदन कर रहा है।' इसीका नाम 'विरहव्याधि'।

उन्माद—साधारण चेष्टाएँ जब बदल जाती हैं और विरहके आवेशमें जब विरहिणी अटपटी और विचित्र चेष्टाएँ करने लगती है तो उसे ही 'विरहोन्माद' कहते हैं। उदाहरण लीजिये। उद्धवजी मथुरा पहुँचकर श्रीराधिकाजीकी चेष्टाओंका वर्णन कर रहे हैं—

भ्रमति भवनगर्भे निर्निमित्तं हसन्ती
प्रथयति तव वार्तां चेतनाचेतनेषु।
लुठति च भुवि राधा कम्पिताङ्गी मुरारे
विषमविषयखेदोद्गारविभ्रान्तचित्ता॥

अर्थात् 'हे कृष्ण! राधिकाजीकी दशा क्या पूछते हो, उसकी तो दशा ही विचित्र है। घरके भीतर घूमती रहती है, बिना बात ही खिल-खिलाकर हँसने लगती है। चेतनावस्थामें हो या अचेतनावस्थामें, तुम्हारे ही सम्बन्धके उद्गार निकालती है। कभी धूलिमें ही लोट जाती है, कभी थर-थर काँपने ही लगती है, हे मुरारे! मैं क्या बताऊँ, वह विधुवदनी राधा तुम्हारे विषम विरहखेदसे विभ्रान्त-सी हुई विचित्र ही चेष्टाएँ करती है।'

नीचेके पदमें भारतेन्दु बाबूने भी उन्मादिनीका बड़ा ही सुन्दर चित्र खींचा है, किन्तु इसे 'विरहोन्माद' न कहकर 'प्रेमोन्माद' कहना ही ठीक होगा। सुनिये, साँवरेके सनेहमें सनी हुई एक सखीकी कैसी विचित्र दशा हो गयी है, पद्य पढ़ते-पढ़ते भाव सजीव होकर आँखोंके सामने नृत्य करने लगता है—

भूली-सी, भ्रमी-सी, चौंकी, जकी-सी, थकी-सी गोपी,
दुखी-सी, रहति कछु नाहीं सुधि देहकी।
मोही-सी, लुभाई-सी, कछु मोदक-सो खायो सदा,
बिसरी-सी रहै नेकु खबर न गेहकी॥
रिसभरी रहै, कबौं फूली न समाति अंग,
हँसि-हँसि कहै बात अधिक उमेहकी।
पूछते खिसानी होय, उत्तर न आवै ताहि,
जानी हम जानी है निसानी या सनेहकी॥

मोह—अत्यन्त ही वियोगमें अंगोंके शिथिल हो जानेसे जो एक प्रकारकी मूर्छा-सी हो जाती है उसे मोह कहते हैं। यह मृत्युके समीपकी दशा है। इसका चित्र तो हमारे रसिक हरिश्चन्दजी ही बड़ी खूबीसे खींच सकते हैं। लीजिये मोहमें मग्न हुई एक विरहिनके साक्षात् दर्शन कीजिये—

थाकी गति अंगनकी, मति परि गई मंद,
सूख झाँझरी-सी ह्वै कै देह लागी पियरान।
बावरी-सी बुद्धि भई, हँसी काहू छीन लई,
सुखके समाज, जित तित लागे दूर जान॥
'हरीचंद' रावरे बिरह जग दुखमयो,
भयो कछु और होनहार लागे दिखरान।
नैन कुम्हिलान लागे, बैनहू अघान लागे,
आयो प्रानन्नाथ! अब प्रान लागे मुरझान॥

सचमुच यदि प्राणनाथके पधारनेकी आशा न होती, ये कुम्हिलाये हुए नैन और अघाये हुए बैन कबके पथरा गये होते। मुरझाये हुए प्राण

प्राणनाथकी आशासे ही अटके हुए हैं। मोहकी दशाका इससे उत्तम उदाहरण और कहाँ मिलेगा!

मृत्यु—मृत्युकी अब हम व्याख्या क्या करें। मृत्यु हो गयी तो झगड़ा मिटा, दिनरात्रिके दुःखसे बचे, किन्तु ये मधुररसके उपासक रागानुयायी भक्त कवि इतनेसे ही विरहिणीका पिण्ड नहीं छोड़ेंगे। मृत्युका वे अर्थ करते हैं 'मृत्युके समान अवस्था हो जाना' इसका दृष्टान्त लीजिये। बंगलाभाषाके प्रसिद्ध पदकर्ता श्रीगोविन्ददासजीकी अमर वाणीमें ही व्रजवासियोंकी इस दसवीं दशाका दर्शन कीजिये—

माधव! तुहु अब निरदय भेल।
मिलइ अवधि दिन, गणि कत राखब व्रजबधू-जीवन-शेल ॥१॥
कोइ धरनितल, कोइ यमुनाजल कोइ कोइ लुउइ निकुंज ॥२॥
एतदिन विरहे, मरणपथ पेखलु तोहे तिरिवध पुनपुंज ॥३॥
तपत सरोवर, थोरि सलिल जनु आकुल सफरी परान ॥४॥
जीवन मरन, मरण वर जीवन 'गोविंददास' दुख जान ॥५॥

दूती कह रही है—'प्यारे माधव! भला यह भी कोई अच्छी बात है, तुम इतने निर्दय बन गये? दुनियाभरके झूठे? कलकी कह आये थे, अब कल-ही-कल कितने दिन हो गये। इस प्रकार झूठमूठ दिन गिनते-गिनते कबतक उन सबको बहलाते रहेंगे। अब तुम्हें व्रजकी दयनीय दशा क्या सुनाऊँ। वहाँका दृश्य बड़ा करुणोत्पादक है। कोई गोपी तो पृथ्वीपर लोट-पोट हो रही है, कोई यमुनाजीमें ही कूद रही है, कोई-कोई निभृत निकुञ्जोंमें ही लंबी-लंबी साँसें ले रही हैं। इस प्रकार वे अत्यन्त ही कष्टके साथ रात्रि-दिनको बिता रही हैं, तुम्हारे विरहमें अब वे मृत्युके समीप ही पहुँच चुकी हैं। यदि वे सब मर गयीं तो सैकड़ों स्त्रियोंके

वधका पाप तुम्हारे ही सिर लगेगा। उनकी दशा ठीक उसी मछलीकी-सी है जो थोड़े जलवाले गड्ढेमें पड़ी हो और सूर्य उस गड्ढेके सब जलको सोख चुका हो, वे जिस प्रकार थोड़ी-सी कीचमें सूर्यकी तीक्ष्ण किरणोंसे तड़फती रहती हैं उसी प्रकार वे तुम्हारे विरहमें तड़फ रही हैं। यह जीते हुए ही मरण है, यही नहीं किन्तु इस जीवनसे तो मरण ही लाख दर्जे अच्छा। गोविन्ददास कहते हैं, उनके दुःखको ऐसा ही समझो।'

नियमानुसार तो यहाँ विरहका अन्त हो जाना चाहिये था, किन्तु वैष्णव कवि मृत्युके बाद भी फिर उसे होशमें लाते हैं और फिर मृत्युसे आगे भी बढ़ते हैं। रागमार्गीय ग्रन्थोंमें इससे आगेके भावोंका वर्णन है।

अनुरागको शुक्लपक्षके चन्द्रमाके समान (प्रतिक्षणवर्द्धमानं) प्रवर्द्धनशील कहा गया है। अनुराग हृदयमें बढ़ते-बढ़ते जब सीमाके समीपतक पहुँच जाता है तो उसे ही 'भाव' कहते हैं। वैष्णवगण इसी अवस्थाको 'प्रेमका श्रीगणेश' कहते हैं। जब भाव परम सीमातक पहुँचता है तो उसका नाम 'महाभाव' होता है। महाभावके भी 'रूढ़ महाभाव' और 'अधिरूढ़ महाभाव' दो भेद बताये गये हैं। अधिरूढ़ महाभावके भी 'मोदन' और 'मादन' दो रूप कहे हैं। 'मादन' ही 'मोहन' के भावमें परिणत हो जाता है, तब फिर 'दिव्योन्माद' होता है। 'दिव्योन्माद' ही 'प्रेम' या रतिकी पराकाष्ठा या सबसे अन्तिम स्थिति है। इसके उद्घूर्णा, चित्रजल्पादि बहुत-से भेद हैं। यह दिव्योन्माद श्रीराधिकाजीके ही शरीरमें प्रकट हुआ था। दिव्योन्मादावस्थामें कैसी दशा होती है, इस बातका अनुमान श्रीमद्भागवतके उक्त श्लोकसे कुछ-कुछ लगाया जा सकता है—

एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौति गाय-
त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः ॥*
(श्रीमद्भा० ११। २। ४०)

इस श्लोकमें 'रौति' और 'रोदिति' ये दो क्रियाएँ साथ दी हैं। इससे खूब जोरोंसे ठाह मारकर रोना ही अभिव्यञ्जित होता है। 'रु' धातु शब्द करनेके अर्थमें व्यवहृत होती है। जोरोंसे रोनेके अनन्तर जो एक करुणाजनक 'हा' शब्द अपने-आप ही निकल पड़ता है वही यहाँ 'रौति' क्रियाका अर्थ होगा। इसमें उन्मादकी अवस्थाका वर्णन नहीं है। यह तो 'उन्मादकी-सी अवस्था' का वर्णन है। उन्मादावस्था तो इससे भी विचित्र होती होगी। यह तो सांसारिक उन्मादकी बात हुई, अब दिव्योन्माद तो फिर उन्मादसे भी बढ़कर विचित्र होगा! वह अनुभव-गम्य विषय है। श्रीराधिकाजीको छोड़कर और किसीके शरीरमें यह प्रकटरूपसे देखा अथवा सुना नहीं गया।

भावोंकी चार दशा बतायी हैं—(१) भावोदय, (२) भावसन्धि, (३) भावशावल्य और (४) भावशान्ति।

किसी कारणविशेषसे जो हृदयमें भाव उत्पन्न होता है उसे भावोदय कहते हैं। जैसे सायंकाल होते ही श्रीकृष्णके आनेका भाव

---

* श्रीकृष्णके श्रवण-कीर्तनका ही जिसने व्रत ले रखा है ऐसा पुरुष अपने प्यारे श्रीकृष्णके नाम-संकीर्तनसे उनमें अनुरक्त एवं विह्वलचित्त होकर संसारी लोगोंकी कुछ भी परवा न करता हुआ कभी तो जोर-जोरसे हँसता है, कभी रोता है, कभी चिल्लाता है, कभी गाता है और कभी पागलके समान नाचने लगता है।

हृदयमें उदित हो गया। हृदयमें दोनों भाव जब आकर मिल जाते हैं तो उस अवस्थाका नाम भावसन्धि है। जैसे बीमार होकर पतिके घर लौटने-पर पत्नीके हृदयमें हर्ष और विषादजन्य दोनों भावोंकी सन्धि हो जाती है। बहुत-से भाव जब एक साथ ही उदय हो जायँ तब उसे भावशावल्य कहते हैं। जैसे पुत्रोत्पत्तिके समाचारके साथ ही पत्नीकी भयङ्कर दशाका तथा पुत्रको प्राप्त होनेवाली उसके पुत्रहीना मातामहकी सम्पत्ति तथा उसके ग्रहण करनेके भाव एक साथ ही हृदयमें उत्पन्न हो जायँ। इसी प्रकार जब इष्टवस्तुके प्राप्त हो जानेपर जो एक प्रकारकी सन्तुष्टि हो जाती है उसे 'भावशान्ति' कहते हैं। जैसे रासमें अन्तर्धान हुए श्रीकृष्ण सखियोंको सहसा मिल गये, उस समय उनका अदर्शनरूप जो विरहभाव था वह शान्त हो गया।

इसी प्रकार निर्वेद, विषाद, दैन्य, ग्लानि, श्रम, मद, गर्व, शंका, त्रास, आवेग, उन्माद, अपस्मार, व्याधि, मोह, मृति, आलस्य, जाडय, व्रीडा, अवहित्था, स्मृति, वितर्क, चिन्ता, मति, धृति, हर्ष, औत्सुक्य, अमर्ष, असूया, चापल्य, निद्रा और बोध इन सबको व्यभिचारीभाव कहते हैं। इनका वैष्णव शास्त्रोंमें विशदरूपसे वर्णन किया गया है।

इन सब बातोंका असली तात्पर्य यही है कि हृदयमें किसीकी लगन लग जाय। दिलमें कोई धँस जाय, किसीकी रूपमाधुरी आँखोंमें समा जाय, किसीके लिये उत्कट अनुराग हो जाय तब सभी बेड़ा पार हो जाय। एक बार उस प्यारेसे लगन लगनी चाहिये फिर भाव, महा-भाव, अधिरूढ़भाव तथा सात्त्विक विकार और विरहकी दशाएँ तो अपने आप उदित होंगी। पानीकी इच्छा होनी चाहिये। ज्यों-ज्यों पानीके बिना गला सूखने लगेगा त्यों-त्यों तड़फड़ाहट अपने आप ही

बढ़ने लगेगी। उस तड़फड़ाहटको लानेके लिये प्रयत्न न करना होगा। किन्तु हृदय किसीको स्थान दे तब न, उसने तो काम-क्रोधादि चोरोंको स्थान दे रखा है। वहाँ फिर महाराज प्रेमदेव कैसे पधार सकते हैं। सच-मुच हमारा हृदय तो वज्रका है। स्तम्भ, रोमाञ्च, अश्रु आदि आठ विकारोंमेंसे एक भी तो हमारे शरीरमें स्वेच्छासे उदित नहीं होता। भगवान् वेदव्यास तो कहते हैं—

तदश्मसारं हृदयं बतेदं
यद्गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः।
न विक्रियेताथ यदा विकारो
नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः॥

अर्थात् 'उस पुरुषके हृदयको वज्रकी तरह—फौलादकी तरह—समझना चाहिये जिसके नेत्रोंमें हरिनामस्मरणमात्रसे ही जल न भर आता हो, शरीरमें रोमाञ्च न हो जाते हों और हृदयमें किसी प्रकारका विकार न होता हो।' सचमुच हमारा तो हृदय ऐसा ही है। कैसे करें, क्या करनेसे नेत्रोंमें जल और हृदयमें प्रेमकी विकृति उत्पन्न हो। महाप्रभु चैतन्यदेव भी रोते-रोते यही कहा करते थे—

नयनं गलदश्रुधारया
वदनं गद्गदरुद्धया गिरा।
पुलकैर्निचितं वपुः कदा
तव नामग्रहणे भविष्यति॥

अर्थात् 'हे नाथ! तुम्हारा नाम ग्रहण करते-करते कब हमारे दोनों नेत्रोंसे जलकी धारा बहने लगेगी। कब हम गद्गद कण्ठसे 'कृष्ण-कृष्ण' कहते हुए पुलकित हो उठेंगे?' वे महाभाग तो अपनी साधको पूरी कर

हृदयमें उदित हो गया। हृदयमें दो भाव जब आकर मिल जाते हैं तो उस अवस्थाका नाम भावसन्धि है। जैसे बीमार होकर पतिके घर लौटने-पर पत्नीके हृदयमें हर्ष और विषादजन्य दोनों भावोंकी सन्धि हो जाती है। बहुत-से भाव जब एक साथ ही उदय हो जायँ तब उसे भावशावल्य कहते हैं। जैसे पुत्रोत्पत्तिके सुसमाचारके साथ ही पत्नीकी भयङ्कर दशाका तथा पुत्रको प्राप्त होनेवाली उसके पुत्रहोना मातामहकी सम्पत्ति तथा उसके प्रवास करनेके भाव एक साथ ही हृदयमें उत्पन्न हो जायँ। इसी प्रकार इष्ट वस्तुके प्राप्त हो जानेपर जो एक प्रकारकी सन्तुष्टि हो जाती है उसे भावशान्ति कहते हैं। जैसे रासमें अन्तर्धान हुए श्रीकृष्ण सखियोंको सहसा मिल गये, उस समय उनका अदर्शनरूप जो विरहभाव था वह शान्त हो गया।

इसी प्रकार निर्वेद, विषाद, दैन्य, ग्लानि, श्रम, मद, गर्व, शंका, त्रास, आवेग, उन्माद, अपस्मार, व्याधि, मोह, मृति, आलस्य, जाड्य, व्रीडा, अवहित्था, स्मृति, वितर्क, चिन्ता, मति, धृति, हर्ष, औत्सुक्य, अमर्ष, असूया, चापल्य, निद्रा और बोध इन सबको व्यभिचारीभाव कहते हैं। इनका वैष्णव शास्त्रोंमें विशदरूपसे वर्णन किया गया है।

इन सब बातोंका असली तात्पर्य यही है कि हृदयमें किसीकी लगन लग जाय। दिलमें कोई धँस जाय, किसीकी रूपमाधुरी आँखोंमें समा जाय, किसीके लिये उत्कट अनुराग हो जाय तब समझो बेड़ा पार हो जाय। एक बार उस प्यारेसे लगन लगनी चाहिये फिर भाव, महा-भाव, अधिरूढ़भाव तथा सात्त्विक विकार और विरहकी दशाएँ तो अपने आप उदित होंगी। पानीकी इच्छा होनी चाहिये। ज्यों-ज्यों पानीके बिना गला सूखने लगेगा त्यों-त्यों तड़फड़ाहट

महाप्रभुका दिव्योन्माद

सिञ्चन् सिञ्चन् नयनपयसा पाण्डुगण्डस्थलान्तं
मुञ्चन् मुञ्चन् प्रतिमुहुरहो दीर्घनिःश्वासजातम्।
उच्चैः क्रन्दन् करुणकरुणोद्गीर्णहाहेतिरावो
गौरः कोऽपि व्रजविरहिणीभावमग्नश्चकास्ति ॥*

(श्रीप्रबोधानन्द)

पाठकोंको सम्भवतया स्मरण होगा, इस बातको हम पहले ही बता चुके हैं कि श्रीचैतन्यदेवके शरीरमें प्रेमके सभी भाव क्रमशः धीरे-धीरे ही प्रस्फुटित हुए। यदि सचमुच प्रेमके ये उच्च भाव एक साथ ही उनके शरीरमें उदित हो जाते तो उनका हृदय फट जाता। उनका क्या किसी भी प्राणीका शरीर इन भावोंके वेगको एक साथ सहन नहीं कर सकता। गयामें आपको छोटे-से मुरली बजाते हुए श्याम दीखे, उन्हींके फिर दर्शन पानेकी लालसासे वे रुदन करने लगे। तभीसे धीरे-धीरे उनके भावोंमें वृद्धि होने लगी। शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर इन भावोंमें मधुर ही सर्वश्रेष्ठ बताया गया है। पुरीमें प्रभु इसी भावमें विभोर रहते थे। मधुर भावमें राधाभाव सर्वोत्कृष्ट है। सम्पूर्ण रस, सम्पूर्ण भाव और अनुभाव राधाभावमें ही जाकर परिसमाप्त हो

---

* श्रीगौरसुन्दर अपने निरन्तरके नयनजलसे दोनों गण्डस्थलोंको पाण्डुरङ्ग-के बनाते हुए, प्रतिक्षण दीर्घनिःश्वास छोड़ते हुए और करुणस्वरसे हा! हा! शब्द करके जोरोंसे रुदन करते हुए किसी व्रजविरहिणीके भावमें सदा निमग्न रहने लगे।

गये। अठारह वर्ष नेत्रोंमेंसे इतनी जलधारा बहायी कि कोई मनुष्य इतने रक्तका जल कभी बना ही नहीं सकता। गौरभक्तोंका कहना है कि महाप्रभु गरुडस्तम्भके समीप जगमोहनके इसी ओर जहाँ खड़े होकर दर्शन करते थे, वहाँ नीचे एक छोटा-सा कुण्ड था। महाप्रभु दर्शन करते-करते इतना रोते थे कि उस गड्ढेमें अश्रुजल भर जाता था। एक-दो दिन नहीं, साल-दो-साल नहीं, पूरे अठारह साल इसी प्रकार वे रोते। उन्मादावस्थामें भी उनका श्रीजगन्नाथजीके दर्शनोंका जाना बंद नहीं हुआ। यह काम उनका अन्ततक अक्षुण्णभावसे चलता रहा। वैष्णव भक्तोंका कथन है कि महाप्रभुके शरीरमें प्रेमके ये सभी भाव प्रकट हुए। क्यों न हों, वे तो चैतन्यस्वरूप ही थे। महाप्रभुके उन दिव्यभावोंका वृत्तान्त पाठक अगले प्रकरणोंमें पढ़ेंगे। अन्तमें श्रीललितकिशोरीजीकी अभिलाषामें अपनी अभिलाषा मिलाते हुए हम इस वक्तव्यको समाप्त करते हैं—

जमुना पुलिन कुंज गहवरकी
कोकिल ह्वै द्रुम कूक मचाऊँ।
पद-पंकज प्रिय लाल मधुप ह्वै
मधुरे-मधुरे गुंज सुनाऊँ॥
कूकर ह्वै बन बीथिन डोलौं
बचे सीथ रसिकनके खाऊँ।
'ललितकिसोरी' आस यही मम
ब्रज-रज तजि छिन अनत न जाऊँ॥

महाप्रभुका दिव्योन्माद

सिञ्चन् सिञ्चन् नयनपयसा पाण्डुगण्डस्थलान्तं
मुञ्चन् मुञ्चन् प्रतिमुहुरहो दीर्घनिःश्वासजातम्।
उच्चैः क्रन्दन् करुणकरुणोद्गीर्णहाहेतिरावो
गौरः कोऽपि व्रजविरहिणीभावमग्नश्चकास्ति ॥*

(श्रीप्रबोधानन्द)

पाठकोंको सम्भवतया स्मरण होगा, इस बातको हम पहले ही बता चुके हैं कि श्रीचैतन्यदेवके शरीरमें प्रेमके सभी भाव क्रमशः धीरे-धीरे ही प्रस्फुटित हुए। यदि सचमुच प्रेमके ये उच्च भाव एक साथ ही उनके शरीरमें उदित हो जाते तो उनका हृदय फट जाता। उनका क्या किसी भी प्राणीका शरीर इन भावोंके वेगको एक साथ सहन नहीं कर सकता। गयामें आपको छोटे-से मुरली बजाते हुए श्याम दीखे, उन्हींके फिर दर्शन पानेकी लालसासे वे रुदन करने लगे। तभीसे धीरे-धीरे उनके भावोंमें वृद्धि होने लगी। शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर इन भावोंमें मधुर ही सर्वश्रेष्ठ बताया गया है। पुरीमें प्रभु इसी भावमें विभोर रहते थे। मधुर भावमें राधाभाव सर्वोत्कृष्ट है। सम्पूर्ण रस, सम्पूर्ण भाव और अनुभाव राधाभावमें ही जाकर परिसमाप्त हो

---

* श्रीगौरसुन्दर अपने निरन्तरके नयनजलसे दोनों गण्डस्थलोंको पाण्डुरङ्गके बनाते हुए, प्रतिक्षण दीर्घनिःश्वास छोड़ते हुए और, करुणस्वरसे हा! हा! शब्द करके जोरोंसे रुदन करते हुए किसी व्रजविरहिणीके भावमें सदा निमग्न रहने लगे।

जाते हैं, इसलिये अन्तके बारह वर्षोंमें प्रभु अपनेको राधा मानकर ही श्रीकृष्णके विरहमें तड़पते रहे। कविराज गोस्वामी कहते हैं—

राधिकार भावे प्रभुर सदा अभिमान।
सेइ भावे आपनाके हय 'राधा' ज्ञान॥
दिव्योन्माद ऐछे हय, कि इहा विस्मय?
अधिरूढ़ भावे दिव्योन्माद-प्रलाप हय॥

अर्थात् 'महाप्रभु राधाभावमें भावान्वित होकर उसी भावसे सदा अपनेको 'राधा' ही समझते थे। यदि फिर उनके शरीरमें, 'दिव्योन्माद' प्रकट होता था तो इसमें विस्मय करनेकी ही कौन-सी बात है। अधिरूढ़ भावमें दिव्योन्माद प्रलाप होता ही है।' इसलिये अब आपकी सभी क्रियाएँ उसी विरहिणीकी भाँति होती थीं।

एक दिन स्वप्नमें आप रासलीला देखने लगे। अहा! प्यारेको बहुत दिनोंके पश्चात् आज वृन्दावनमें देखा है। वही सुन्दर अलकावली, वही माधुरी मुसकान, वे ही हाव-भाव-कटाक्ष, उसी प्रकार रासमें थिरकना, सखियोंको गले लगाना, कैसा सुख है! कितना आनन्द है!! ताथेई-ताथेई करके सखियोंके बीचमें श्याम नाच रहे हैं और सैनोंको चलाते हुए वंशी बजा रहे हैं। महाप्रभु भूल गये कि यह स्वप्न है या जागृति है। वे तो उस रसमें सराबोर थे। गोविन्दको आश्चर्य हुआ कि 'प्रभु आज इतनी देरतक क्यों सो रहे हैं, रोज तो अरुणोदयमें ही उठ जाते थे, आज तो बहुत दिन भी चढ़ गया है। सम्भव है, नाराज हों, इसलिये जगा दूँ।' यह सोचकर गोविन्द धीरे-धीरे प्रभुके तलवोंको दबाने लगा। प्रभु चौंककर उठ पड़े और 'कृष्ण कहाँ गये?' कहकर जोरोंसे रुदन करने लगे। गोविन्दने कहा—'प्रभो! दर्शनोंका समय हो गया है, नित्यकर्मसे निवृत्त होकर दर्शनोंको चलिये।' इतना

सुनते ही उसी भावमें यन्त्रकी तरह शरीरके स्वभावानुसार नित्यकर्मोंसे निवृत्त होकर श्रीजगन्नाथजीके दर्शनोंको गये।

महाप्रभु गरुडस्तम्भके सहारे घंटों खड़े-खड़े दर्शन करते रहते थे। उनके दोनों नेत्रोंमेंसे जितनी देरतक वे दर्शन करते रहते थे उतनी देरतक जलकी दो धाराएँ बहती रहती थीं। आज प्रभुने जगन्नाथजीके सिंहासनपर उसी मुरलीमनोहरके दर्शन किये। वे उसी प्रकार मुरली बजा-बजाकर प्रभुकी ओर मन्द-मन्द मुसकान कर रहे थे, प्रभु अनिमेष-भावसे उनकी रूपमाधुरीका पान कर रहे थे। इतनेमें ही एक उड़ीसा-प्रान्तकी वृद्धा माई जगन्नाथजीके दर्शन न पानेसे गरुडस्तम्भपर चढ़कर और प्रभुके कन्धेपर पैर रखकर दर्शन करने लगी। पीछे खड़े हुए गोविन्दने उसे ऐसा करनेसे निषेध किया। इसपर प्रभुने कहा—'यह आदिशक्ति महामाया है, इसके दर्शनसुखमें विघ्न मत डालो, इसे यथेष्ट दर्शन करने दो।'

गोविन्दके कहनेपर वह वृद्धा माता जल्दीसे उतरकर प्रभुके पादपद्मों-में पड़कर पुनः-पुनः प्रणाम करती हुई अपने अपराधके लिये क्षमा-याचना करने लगी। प्रभुने गद्गद कण्ठसे कहा—'मातेश्वरी! जगन्नाथ-जीके दर्शनोंके लिये तुम्हें जैसी विकलता है ऐसी विकलता जगन्नाथजी-ने मुझे नहीं दी। हा! मेरे जीवनको धिक्कार है। जननी! तुम्हारी ऐसी एकाग्रताको कोटि-कोटि धन्यवाद है। तुमने मेरे कन्धेपर पैर रखा और तुम्हें इसका पता भी नहीं।' इतना कहते-कहते प्रभु फिर रुदन करने लगे। 'भावसन्धि' हो जानेसे स्वप्नका भाव जाता रहा और अब जगन्नाथजीके सिंहासनपर उन्हें सुभद्रा बलरामसहित जगन्नाथजीके दर्शन होने लगे। इससे महाप्रभुको कुरुक्षेत्रका भाव उदित हुआ, जब ग्रहणके स्नानके समय श्रीकृष्णजी अपने परिवारके सहित गोपिकाओं-को मिले थे। इससे खिन्न होकर प्रभु अपने वासस्थानपर लौट आये।